गंगा-पुस्तकमाला का अड़तीसवाँ पुष्प
भवभूति
ज्वालादत्त शर्मा

भवभूति

संपादक

श्रीदुलारेलाल भार्गव

(माधुरी-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का अड़तीसवाँ पुष्प

भवभूति

(समालोचना)

मूल-लेखक

महामहोपाध्याय स्वर्गीय सतीशचंद्र विद्याभूषण
एम्० ए०, पी० आर० एस्०

अनुवादकर्त्ता

ज्वालादत्त शर्मा

(भूतपूर्व प्रतिभा-संपादक)

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२९-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

जिल्ददार १०)] १९८१ वि० [सादी ॥=)

प्रकाशक
श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०
गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

मुद्रक
श्रीगणपति कृष्ण गुर्जर
श्रीलक्ष्मीनारायण-प्रेस
बनारस

प्रेमोपहार

श्रीयुत ठाकुर शंकरसिंह भूपजी

(सभापति शांति-दायक थियोसाफ़िकल लॉज, मुरादाबाद)

महोदय,

आपके चरित्र और स्वभाव से तथा रहन-सहन के सुंदर ढंग से मुझे अनेक शिक्षाएँ मिली हैं। उस उपकार का बदला तो नहीं हो सकता, फिर भी यह छोटी-सी पुस्तिका आपकी भेंट करता हूँ; धृष्टता के लिये मुझे क्षमा कीजिएगा।

ज्वालादत्त शर्मा

वक्तव्य

हिंदी में समालोचना-ग्रंथों का बहुत अभाव है। जो थोड़े हैं, उनमें दुराग्रह, अतिरंजना और पक्षपात के भाव मौजूद हैं। साथ ही उनमें खोज की मात्रा बहुत कम है। समालोचक को बहुज्ञ, मननशील, अनुसंधान-प्रिय, सूक्ष्मदर्शी, न्याय-शील और शांत-चित्त होना चाहिए। उसके लिये समालोच्य विषय का पूर्ण मर्मज्ञ होना तो अनिवार्य ही है। उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी, भाषा संयत, विवेचना-शक्ति प्रखर और निष्कलंक होनी चाहिए। इस पुस्तक में सच्चे समालोचक के समस्त स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास स्पष्ट झलकता है। समालोचक के पांडित्य और उसके असाधारण तत्त्वान्वेषण-शक्ति की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। हिंदी की समालोचना-शैली के सामने एक आदर्श, निर्दोष और अनुकरणीय प्रणाली उपस्थित करने की इच्छा से ही हम यह पुस्तक प्रकाशित करते हैं। आशा है, हिंदी-संसार के समालोचना-प्रिय पाठक इसे पढ़कर अवश्य संतुष्ट होंगे।

यह पुस्तक बंगाल के जगत्प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण एम० ए०, पी० आर्० एस्० की स्वयंसिद्ध लेखनी की करामात है। इसे हिंदी के सुंदर साँचे में ढालने का सफल प्रयत्न एक ऐसे स्वनाम-धन्य हिंदी-लेखक ने किया है, जो केवल अनुवाद में भी मौलिकता उत्पन्न करने के ही लिये प्रसिद्ध नहीं हैं, बल्कि मँजी हुई, ज़ोरदार भाषा लिखने में भी सिद्ध-हस्त हैं। इस पुस्तक के अनुवाद में आपको स्तुत्य सफलता प्राप्त हुई है। विश्वास है, इस पुस्तक का हिंदी में यथेष्ट आदर होगा।

लखनऊ;
१।१२।२४

दुलारेलाल भार्गव
(संपादक)

यहाँ से मँगाइए

हिंदुस्थान-भर की, सभी प्रकार की

और

सभी विषयों की

हिंदी-पुस्तकें ।

हमारी ही हिंदुस्थान में हिंदी-पुस्तकों की

सबसे बड़ी दूकान है ।

पत्र व्यवहार का पता—

[illegible]-कार्यालय

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ

भवभूति

ईसा से ६ शताब्दी पहले जन्म लेकर जो धर्म अशोक और कनिष्क आदि राजाओं के समय में समस्त भारत, लंका और जावा आदि द्वीपों में फैल गया था—ईसा की पहली शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक, सात-सौ वर्षों में, जिस धर्म की प्रकाश-किरणों ने चीन-देश को आलोकित किया था—ईसा की सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं शताब्दी में जिस धर्म के नेताओं ने कठोर प्रचारक-धर्म को स्वीकार करके अर्द्ध-मनुष्य और अर्द्ध-पशु केलिबन को पढ़ना सिखानेवाले सुविज्ञ प्रास्पेरो * की तरह असभ्य जापान-वासियों, अशिक्षित श्याम-वासियों और पशु-तुल्य तिब्बत-वासियों को 'अहिंसा परमो धर्मः' का दुरूह मोक्ष-तत्त्व समझाया था, जिसका बिगड़ा हुआ रूप साइबीरिया का सामानिज़्म है—महानुभाव ईसामसीह भी जिस धर्म से अच्छी तरह प्रभावित हुए थे—जिस धर्म ने समस्त भूमंडल पर भारत की प्रधानता को घोषित किया था, और जिसके प्रभाव से विदेश के अनेक पर्यटक तीर्थ-बुद्धि से भारत के दर्शनार्थ आते

भवभूति ने किस उद्देश्य से काव्य-रचना की ?

* Shakespeare's 'Tempest'

हैं, उस प्रशांत बौद्ध धर्म का किस तरह उदय और अस्त हुआ, इस निबंध में इन सब बातों का हम विचार नहीं करेंगे। ईसा की सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक, सात-सौ वर्षों में, उद्योगकर, कुमारिल भट्ट, शंकाराचार्य, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, रामानुज और सायनाचार्य आदि दार्शनिकों और भवभूति, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों ने जन्म लेकर किस तरह बौद्ध-धर्म-प्लावित भारतवर्ष में ब्राह्मण-धर्म को फिर स्थापित किया, और वैदिक क्रिया-कलाप की पुनः प्रतिष्ठा की, या मुहम्मद-प्रचारित इस्लाम-धर्म ने परोक्ष भाव से बौद्ध-धर्म को भारतवर्ष से उखाड़ने में सहायता की या नहीं, ये बातें भी इस निबंध में आलोचित न होंगी। जिन महात्माओं ने विविध उपायों से ब्राह्मण-धर्म को पुनर्जीवित किया, उनमें से अन्यतम महाकवि भवभूति के काव्य की कुछ समालोचना करना ही इस छोटी-सी पुस्तिका का एकमात्र उद्देश्य है।

भगवान् पक्षिल स्वामी ने न्याय-सूत्र पर जो भाष्य बनाया था, दिङ्नाग आदि बौद्ध पंडितों के तर्क-जाल से जब वह घिर गया, तब उसके उद्धार के लिये छठी शताब्दी के अंत में उद्योतकराचार्य ने न्याय-वार्तिक की रचना की। ईसा की सातवीं शताब्दी के अंत में सुविख्यात वैदिक पंडित कुमारिल भट्ट ने दक्षिण के केरल-प्रदेश से बौद्धों को निकाल दिया, और बहुत-से वैदिक वाक्यों की संगति बिठाकर उन्होंने मीमांसा-वार्तिक की रचना की। आठवीं शताब्दी के अंत और नवीं शताब्दी के प्रारंभ में भगवान् शंकराचार्य ने दक्षिण के मालवा-देश में अवतीर्ण होकर श्रुति और उपनिषदों के प्रमाण से अद्वैतवाद

की स्थापना की और वेदांत-भाष्य बनाया। उनकी विद्वत्ता, विचार-शक्ति और अध्यवसाय-शीलता से परास्त होकर बौद्धों ने या तो देश छोड़ दिया, या अपना मत बदल लिया*। ईसा की दसवीं शताब्दी में दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने जन्म लेकर वेद की सम्यक् आलोचना और विविध दर्शन-ग्रंथों द्वारा बौद्ध-मत की असारता प्रतिपादित की। बारहवीं शताब्दी में उदयनाचार्य ने मिथिला-प्रदेश में उत्पन्न होकर किस तरह अथक परिश्रम द्वारा बौद्धों को हराया † और वेद को प्रामाण्य

---

* एक प्रवाद चला आता है कि शंकराचार्य अपने साथ दिग्विजय के समय लोहे का एक बहुत बड़ा कड़ाह रखते थे। बौद्धों के साथ विचार करते समय वह उस कड़ाह को तेल से भरवाकर अग्नि पर चढ़वा देते थे, और विपक्षी से प्रतिज्ञा कर लेते थे कि हार जाने पर उसे कड़ाह में कूदना पड़ेगा। जिस समय वह तिब्बत में तांत्रिक संप्रदाय के विरुद्ध शास्त्रार्थ कर रहे थे, उस समय उनके प्रिय शिष्य आनंद-गिरि ने उनसे कहा:—"अब अधिक शास्त्रार्थ करने की या आगे बढ़ने की जरूरत नहीं है। जगत् की सीमा नहीं है। न मालूम कहाँ कौन प्रतिभाशाली विद्वान् छिपा पड़ा हो।" आनंद की प्रार्थना मानकर शंकराचार्य आगे न बढ़े, और उस कड़ाह को अपनी यात्रा के स्मारक-रूप में तिब्बत में ही गाड़ दिया। तिब्बत में अब भी वह स्थान 'शंकर-कटाह' नाम से प्रसिद्ध है। नेपाल और तिब्बत में यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि तिब्बत के लामाओं ने शंकराचार्य को पराजित किया था। कोई-कोई कहते हैं कि शंकर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उस कड़ाह में कूद पड़े थे, और इस तरह उन्होंने देह-त्याग किया था। कोई कहते हैं कि लामाओं के मंत्रों के प्रभाव से उनकी मृत्यु हुई थी।

† कहावत है कि एक बार उदयनाचार्य के साथ बौद्धों का 'ईश्वर है या नहीं' इस विषय पर शास्त्रार्थ हुआ था। उदयनाचार्य ने अनेक युक्तियों से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया, बौद्ध लोग उनकी युक्तियों से संतुष्ट नहीं हुए। वह एक

तथा ईश्वर का अस्तित्व प्रतिपन्न किया—यह सभी जानते हैं। इसी समय रामानुज स्वामी ने बौद्ध धर्म के विरुद्ध खड़े होकर जिस वैष्णव मत का प्रचार किया, और चौदहवीं शताब्दी में सायनाचार्य ने वेद की टीका बनाकर विलुप्त-प्राय वैदिक साहित्य के पढ़ने और पढ़ाने में जो सुविधा कर दी—ये बातें भी सबको मालूम हैं। नैषध-चरित के बनानेवाले श्रीहर्ष ने कलि के मुँह से बौद्ध मत कहलाकर फिर उसका खंडन किया है, और वैदिक मत की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। दार्शनिक मतों में उदयनाचार्य ने अद्वैतवादी को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। किंतु

ब्राह्मण और बौद्ध को साथ लेकर किसी पहाड़ पर चढ़ गए। जिस समय वहाँ बातचीत हो रही थी, उस समय उन्होंने उस ब्राह्मण और बौद्ध को नीचे ढकेल दिया। पृथ्वी पर गिरते हुए ब्राह्मण ने कहा—'ईश्वरोऽस्ति' और बौद्ध ने कहा—'ईश्वरो नास्ति'। बाद को देखा गया कि गिराए जाने पर भी ब्राह्मण बच गया, पर बौद्ध चल बसा! उदयनाचार्य ने बौद्धों से कहा, तुम लोग देखो ईश्वर है या नहीं? किसी-किसी ने उदयनाचार्य से कहा, आपने एक बौद्ध को मारकर बड़ा पाप किया है, अब आप श्री जगन्नाथ के दर्शनकर उसका प्रायश्चित्त कीजिए। वह वहाँ गए, और तीन दिन बिना कुछ खाए-पिए जगन्नाथ के मंदिर में पड़े रहे; पर जगन्नाथ उनके पास न आए। तीसरे दिन जगन्नाथ ने स्वप्न में कहा—'तुम पापी हो, काशी जाकर तुषानल करो, तब तुम्हारा पाप नष्ट होगा, और तुम्हें हमारे दर्शन होंगे, उदयनाचार्य अनुतप्त होकर बनारस गए और वहाँ तुषानल द्वारा उन्होंने शरीर छोड़ दिया। मृत्यु के समय उन्होंने जगन्नाथ को संबोधन करके कहा—

"ऐश्वर्य्यमदमत्तः सन् मामवज्ञाय वर्त्तसे,
पुनर्बौद्धे समायाते मदधीना तव स्थितिः।"

'ऐश्वर्य-मद से मत्त होकर तुमने मेरी अवज्ञा की है। बौद्धों के फिर ज़ोर पकड़ने पर तुम्हारे अस्तित्व की रक्षा मेरे ही द्वारा होगी।'

हमारे आलोच्य कवि भवभूति ने जिस प्रणाली से वैदिक मार्ग के पुनरुद्धार की चेष्टा की है, वह निराली थी। उससे उनकी मौलिकता का बहुत कुछ परिचय मिलता है। उन्होंने बौद्धों के साथ न साक्षात् युद्ध ठाना, और न वैदिक क्रिया-कलाप की ही साक्षात् प्रशंसा की। उन्होंने प्राचीन और पवित्र वैदिक समाज का एक आदर्श चित्र और अपने समय के अधःपतित हिंदू-समाज की एक छवि पाठकों के सामने रख दी है। देखने-वाले उन दोनों चित्रों को देखकर अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर लें।

भवभूति के सम-सामयिक बौद्ध-समाज की अवस्था

विचारपूर्वक मालती-माधव पढ़ने से भवभूति के सम-सामयिक बौद्ध और तांत्रिक-समाज की भीतरी अवस्था का बहुत-कुछ पता लगता है। परिव्राजिका कामंदकी के कामों को देखकर मालूम होता है कि उस समय बौद्ध-समाज की अवस्था भ्रष्ट हो चली थी। बौद्ध शास्त्रों में प्रव्रज्या के जिन नियमों का उल्लेख है, कामंदकी के जीवन में उनमें से किसी का भी पता नहीं मिलता। कामंदकी* ने प्रतिज्ञा की थी कि चाहे प्राण चले जायँ, पर मालती के साथ माधव का विवाह करा दूँगी। उसने अनेक विघ्नों को काटकर अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा भी की। इस विषय में कामंदकी की नीति कामंदक की नीति से कहीं अच्छी थी†। किंतु बौद्ध परि-

* काम०—तत्सर्वथा संगमनाय यत्नः प्राणव्ययेनाऽपि मया विधेयः। (मालती, ४)

† लवङ्गिके अपि नाम बुद्धरक्षिता संक्रांता भगवती नीतिः विजेष्यते।
(मालती, ७)

व्राजिका के लिये स्वयं विवाह करना या दूसरे का विवाह कराना दोनों ही निषिद्ध हैं। विवाह को संसार की गाँठ समझकर कामंदकी ने स्वयं तो विवाह किया नहीं, परिव्राजका-व्रत पालती रही; पर मालती और माधव के विवाह के लिये उसका बद्ध-परिकर होना आश्चर्य में डालता है। काश्मीर के प्रसिद्ध बौद्ध कवि क्षेमेंद्र अपनी अवदान-कल्पलता में लिखते हैं—

बाष्पस्याद्या सततपतने होमधूमे प्रवृत्तिः
सत्यग्रंथिर्व्यसनमरणौ तुल्यहस्तार्पणेन ।
संसाराज्ञा समयचलने बन्धनं माल्यदाम्ना
मोहारोहोपहतमनसां हर्षहेतुर्विवाहः ॥

(अवदान-कल्पलता, ६२-९)

'विवाह के बाद निरंतर दुःख ही उठाने पड़ेंगे। विवाह के समय में होम के धुएँ के कारण गिरे हुए आँसू ही इस बात के पूर्व चिन्ह हैं। विवाह के समय वर-वधू के हाथ मिलाने का यह अर्थ है कि वे दोनों व्यसन के मार्ग पर चलने के लिये मानो क़सम खा रहे हैं। असार पार्थिव रीति-नीतियों से विचलित न हो जायँ, इसी लिये वर-वधू के हाथ फूलों की माला से बाँध दिए जाते हैं। जिनके मन में मोह का राज्य है, उनके लिये ही विवाह हर्ष का कारण होता है।'

किंतु कामंदकी के इस काम के समर्थन के लिये स्वयं भव-भूति ने नीचे लिखा कारण बतलाया है—

दया वा स्नेहो वा भगवति निजेऽस्मिन् शिशुजने
भवत्या संसाराद्विरतमपि चित्तं द्रवयति ।

भतश्च प्रव्रज्या समयसुलभाचारविमुखः
प्रसक्तस्ते यत्नः प्रभवति पुनर्दैवमपरम् ॥

(मालती-माधव, ४)

'हे भगवति, शिशु मालती के प्रति आपका जो स्नेह है, उसने आपके संसार से विरक्त चित्त को भी आर्द्र कर दिया है। इसीलिये आप प्रव्रज्याश्रम-कर्त्तव्यों से मुँह मोड़कर मालती के लिये यत्न कर रही हैं।'

कामंदकी के कामों को देखने से मालूम होता है कि उस समय हिंदू-धर्म का अभ्युदय होना आरंभ हो गया था, बौद्ध लोगों ने हिंदू देवी-देवताओं की उपासना आरंभ कर दी थी। मालती-माधव के तीसरे अंक में लिखा है कि कामंदकी ने मालती को उसकी सौभाग्य-वृद्धि के निमित्त चतुर्दशी के दिन शिव की पूजा करने के लिये फूल चुनने को भेजा था। वास्तव में यह वह समय था कि जब बौद्ध लोग इस बात का निश्चय नहीं कर सके थे कि वे बौद्ध धर्म का अनुसरण करें या शैव धर्म्म का। गौड़-देश के सुप्रसिद्ध कवि रामचंद्र कवि-भारती 'भक्तिशतक'-ग्रंथ के प्रारंभ में, बुद्ध को नमस्कार करें या शिव को, इस बात का निर्णय नहीं कर सके। वह लिखते हैं—

ज्ञानं यस्य समस्तवस्तुविषयं यस्यानवद्यं वचः
यस्मिन् रागलवोऽपि नैव न पुनर्द्वेषो न मोहस्तथा।
यस्या हेतुरनन्तसत्त्वसुखदा नल्पाकृपामाधुरी
बुद्धो वा गिरिशोऽथवा स भगवांस्तस्मै नमस्कुर्महे ॥

'जिसे सब विषयों का ज्ञान है, जिसका वाक्य निर्दोष है, जिसमें राग, द्वेष और स्नेह की एक बूँद भी नहीं है, जिसकी कृपा

से अनंत जीवों को सुख मिलता है, वह बुद्ध हो या भगवान् भूतभावन शिव हो, उसीको हम नमस्कार करते हैं।'

मालती-माधव के देखने से पता लगता है कि भवभूति के समय में बौद्ध लोग प्राचीन हिंदू-संहिता का श्रद्धा से पाठ किया करते थे। दूसरे अंक में कामंदकी कहती है—

"इतरेतरानुरागो हि दारकर्मणि परार्ध्यं मङ्गलं गीताश्चायमर्थोऽङ्गिरस्य यस्यां वाङ्मनाश्चक्षुषोरनुबद्धस्तस्यामृद्धिरिति।"

(मालती, २)

'विवाह में परस्पर अनुराग से ही कल्याण है, अंगिरा ऋषि कहते हैं कि जो स्त्रियाँ मन, वाणी और आँख से वर के प्रति अनुराग दिखाती हैं, वे ही परम सौभाग्यवती हैं।'

इससे मालूम होता है कि बौद्ध परिव्राजिका कामंदकी ने अपनी बात को पुष्ट करने के लिये महर्षि अंगिरा के धर्म-शास्त्र का आश्रय लिया था।

भवभूति के समय में हिंदू और बौद्ध संप्रदायों में वैर-भाव का नाम न था। पद्मावती-नगरी का राज-मंत्री भूरिवसु और विदर्भ का राज-मंत्री देवरात—दोनों ही—ब्राह्मण थे। किंतु वे कामंदकी और सौदामिनी आदि बौद्ध महिलाओं के साथ एक ही समय में एक ही गुरु के पास पढ़ा करते थे। कामंदकी ने लवंगिका से कहा था—

"अयि किं न वेत्सि यदेकत्र नो विद्यापरिग्रहाय न नानादिगन्तवासिनां साहचर्य्यमासीत्तदैव च अस्मत्सौदामिनीसमक्षमनयोर्भूरिवसुदेवरातयोर्वृत्तेयं प्रतिज्ञा भवश्यमावाभ्यामपत्यसम्बन्धः कर्त्तव्य इति।" (मास, १)

'सखी लवंगिके, तुम्हें मालूम नहीं कि पढ़ते समय हमारी अनेक देशवासियों के साथ भेंट हो जाती है। उसी समय हमारे और सौदामिनी के सामने भूरिवसु और देवरात ने प्रतिज्ञा की थी कि वे एक की कन्या के साथ दूसरे के पुत्र से संबंध करेंगे।'

इस समय प्राच्य और प्रतीच्य विद्वन्मंडली में निर्वाण-तत्त्व पर जो घोर आंदोलन चल रहा है, अध्यापक मैक्समूलर बर्नुफ़, चाइल्डर्स आलविस, हजसन, रीजडेविड्स, ओल्डनबर्ग, मानियर विलियम्स, पाओसिन, श्लांगिंट्यूट्स, पालकेरस आदि विचार-शील जिस तत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये चेष्टा कर रहे हैं, १८७४ ई० के International Congress of the Orientalists नाम की महासभा में पादरी बील साहब चीन से लाए और इंडिया आफ़िस में रक्खे हुए बौद्ध-संस्कृत-ग्रंथों को अच्छी तरह देखकर जिस तत्त्व के गहरे भाव की व्याख्या नहीं कर सके, उस निगूढ़ तत्त्व का यथार्थ भाव क्या है, इस विषय पर, मालूम होता है, भवभूति के समय में भी आलोचना चली थी। मालती-माधव के छठे अंक में मालती कहती है—

"केण उण उवा अण सम्यदं मरण निर्वानस् स अन्तरं सम्भावहस्सम्।"

'किस तरह से मरण और निर्वाण का अंतर मालूम होता है।'

मालती नंदन को नहीं चाहती थी। इसीलिये उसके साथ विवाह का आयोजन होता हुआ देखकर वह मरण को भले ही निर्वाण समझ सकती थी। किंतु बौद्ध शास्त्रों के अनुशीलन से पता चलता है कि मरण और निर्वाण में भारी अंतर है। इस

पर यहाँ विशेष न लिखकर इतना कह देना ही उचित प्रतीत होता है कि पुनर्जन्म-रहित मरण ही निर्वाण है, या जिसकी प्राप्ति से सदा के लिये मृत्यु के हाथ से छुटकारा हो जाय, वही निर्वाण है।

सौदामिनी के चरित्र की समालोचना करने से मालूम होता है कि उस समय कुछ मनुष्य बौद्ध संप्रदाय को छोड़कर अघोरी, शैव या हिंदू-तांत्रिक श्रेणी में प्रविष्ट होने लगे थे। कामंदकी की चेली सौदामिनी पहले बौद्ध थी; फिर अघोरघंट की चेली बनकर और गुरुचर्या, तपस्या, तंत्र, मंत्र, योग, अभियोग आदि का अनुष्ठान करके उसने अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त किया था। सौदामिनी ने जिस तांत्रिक धर्म को ग्रहण किया था, बौद्धों को उस धर्म से कुछ विद्वेष नहीं था। मालती-माधव के दसवें अंक में कामंदकी अपनी प्रणत शिष्या सौदामिनी से कहती है—

"वन्द्या त्वमेव जगतः स्पृहणीयसिद्धिः
एवंविधैर्विलसितैरतिबोधिसत्त्वैः।
यस्याः पुरा परिचयप्रतिबद्धबीज-
मुद्भूतभूरिफलशालि विजृम्भितं ते॥"

'भद्रे, तुमने जिस अलौकिक सिद्धि को प्राप्त किया है, वह स्पृहणीय है और बोधिसत्त्वों के लिये भी दुर्लभ है। तुमने बोधिसत्त्वों से कहीं आगे बढ़कर अनेक सिद्धियों को प्राप्त किया है, इसीलिये जगत् में तुम वंदनीया हो।'

तांत्रिक-समाज

भवभूति के समय के तांत्रिक-समाज* की अवस्था अत्यंत शोचनीय थी। अघोरघंट, कपालकुंडला और सौदामिनी के चरित्रों में यह समाज खूब प्रस्फुटित हुआ है। रात्रिविहारी, अरण्यवासी और मुंड-धारी अघोरघंट पद्मावती-नगरी के श्मशान में बने कराला-नामक चामुंडा के मंदिर में प्रधान गुरु का काम करता था। उसकी चेली बड़े प्रभाववाली कपालकुंडला श्रीपर्वत में रहती थी, और गुरु से मिलने के लिये कभी-कभी चामुंडा के मंदिर में आया करती थी। एक दिन उसने बड़े ही उज्ज्वल, पर भीषण, वेश में आकाशमार्ग से आकर कहा—

"षडधिकदशनाड़ीचक्रमध्यस्थितात्मा—
हृदि विनिहितरूपः सिद्धिदस्तद्विदां यः।
अविचलितमनोभिः साधकैर्मृग्यमाणः
स जयति परिणद्धः शक्तिभिः शक्तिनाथः॥

इयमहमिदानीं—

नित्यं षडङ्गचक्रनिहितं हृत्पद्ममध्योदितम्
पश्यन्ती शिवरूपिणं लयवशादात्मानमभ्यागता।
नाड़ीनामुदयक्रमेण जगतः पञ्चामृताकर्षणा-
दप्राप्तोत्पतनश्रमा विघटयन्त्यग्रे नभोम्भोमुचः॥

---

* सौदामिनी ने श्रीपर्वत से पद्मावती-नगरी में आकर मधुमती के किनारे पर स्थित सुवर्ण-विंदु नाम के शिव को इस तरह प्रणाम किया है—

जय देव भुवनभावन जय भगवन्निखिलनिगमनिधे।
जय रुचिरचंद्रशेखर जय मदनान्तक जय जगदादि गुरो॥

(मालती, ९)

अपिच

उल्लोलस्खलितकपालकण्ठमाला
संघट्टक्वणितकरालकङ्किणी कः ।
पर्याप्तमपि रमणीयडामरत्वं
संधत्ते गगनतलप्रयाणवेगः ।" (मालती, ५)

'साधक लोग अविचलित चित्त से जिसकी खोज करते रहते हैं और ज्ञानी लोग जिसके रूप को हृदय में धारण करके सिद्धियों की प्राप्ति करते हैं, १६ नाड़ियों के चक्र के बीच में स्थित और शक्तियों से घिरे हुए उस शक्तिनाथ की जय हो।'

'मैं मंत्र-न्यास द्वारा षडंग चक्र में छिपे हुए और हृत्पद्म में उदित शिव-रूप आत्मा को प्रत्यक्ष करके और आकाश-मंडल में घिरे मेघों को टुकड़े-टुकड़े करके यहाँ आई हूँ। इडा, पिंगला आदि नाड़ियों को वायु से भरकर पांचभौतिक शरीर का मैंने आकर्षण किया है, इसलिये आकाश-मार्ग पर आने का मुझे कुछ भी कष्ट अनुभव नहीं हुआ।'

'तेज़ी से आने के कारण मेरे गले में पड़े नर-कपालों की माला चंचल और ढीली पड़ गई है, और आते समय आपस में टकराने के कारण उनमें से जो भयंकर ध्वनि उत्पन्न हुई, उसने मेरे लिये रमणीय डमरू का काम किया था।'

मालती-माधव के पाँचवें अंक में लिखा है कि चामुंडा के सामने बलि करने के लिये मंदिर-स्वामी अघोरघंट और उसकी चेली कपालकुंडला ने मालती को चुना था, और इसी लिये उस पर बलिदान का चिन्ह लगा दिया था। विविध जीवों का

उपहार लेनेवाली चामुंडा की पूजा के लिये सैकड़ों प्राणियों का वध किया जाता था। मालती के रोने की आवाज़ सुनकर माधव कहता है—

"कराला यतनाच्चायमुच्चरत्करुणध्वनिः।
विभाव्यते तनुस्थानमनिष्टानां तदीदृशाम् ॥"
(माल०, ५६)

'कराला चामुंडा के मंदिर से यह उच्च करुण ध्वनि आ रहा है। यह मंदिर इसी तरह के अनिष्टों का स्थान है।'

अब देखना चाहिए, यह चामुंडा कौन है। मार्कंडेय पुराण में लिखा है—

यस्माच्चंडञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवी भविष्यति ॥

महासंग्राम में निशुंभ के चंड और मुंड नाम के दो सेनाध्यक्षों को मार डालने के कारण दुर्गा का नाम चामुंडा पड़ा है। ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, माहेंद्री, चामुंडा और चंडिका, इन आठ शक्तियों में चामुंडा भी एक शक्ति है। जे० एफ० वाटसन और जान विलियम केई नाम के पाश्चात्य पंडित एशियाटिक रिसर्च के नवें खंड के २०३ पृष्ठ पर चामुंडा के संबंध में लिखते हैं—

It is to this Goddess that all human sacrifices are made by Hindus. One of the ancient Hindu dramatists Bhavabhuti, who flourished in the 8th century, in his drama of Malti–Madhava, has made powerful use of the Aghora in a scene in the temple of Chamunda

where the heroine of the play is decayed in order to be sacrificed to the dread Goddess Chamunda or Kali.

× × × ×

The belief in the horrible practices of Aghori-Priesthood is thus proved to have existed at a very remote period, and doubtless refers to those more ancient and revolting rites which belonged to the aboriginal superstitions of India, antecedent to the Aryan Hindu invasion and conquest of the country.

The worshippers of Shakti, of Shiva under the terrific forms of Chamunda, Cnh.nna-mastaka and Kali are called Kerari and represent the Aghor Ghanta and Kapal-Kundala. The word Chamunda, according to word, is from *Charu*, Good and *Munda*. a head She is said to be identical with the Goddess Randi.

(*The People of Inaia, by J. F. Watson and John William Kaye Leaden Asiatic Researches, IX Page 203.)*

'हिंदू लोग चामुंडा के सामने नर-बलि तक करते थे। आठवीं शताब्दी के प्राचीन हिंदू कवि भवभूति मालती-माधव नाटक में लिखते हैं कि अघोरघंट मालती को चामुंडा पर चढ़ाने के लिये ले गया था। ऐसे भयंकर काम करनेवाले अघो-रियों पर भारतवर्ष में प्राचीन काल से श्रद्धा का भाव पाया जाता है। यह भी संदेह-शून्य है कि भारतवर्ष में आर्यों के आने से पहले भी अनार्य जातियों में इस तरह के कुसंस्कारों से भरे काम किए जाते थे। चामुंडा, छिन्नमस्ता और काली आदि के नाम से जो उपासक शक्ति और शिव की पूजा करते थे, उन्हें केररी कहते थे। अघोरघंट और कपालकुंडला इसी मत

के थे। वार्ड साहब के मत में 'चारु और मुंड' इन दो शब्दों के योग से चामुंडा शब्द बना है। चामुंडा का अर्थ है–सुंदर मस्तकवाली।"

अघोरघंट और कपालकुंडला जिस संप्रदाय में थे—सौदामिनी ने कामंदकी का शिष्यत्व छोड़कर जिस संप्रदाय की दीक्षा ली थी—जिस समुदाय की आराध्य देवी चामुंडा थी—गुरुचर्या, तपस्या, तंत्र, मंत्र, योग और अभियोग के अनुष्ठान से सिद्धियों का प्राप्त करना जिस संप्रदायवालों का चरम उद्देश्य* था—भवभूति के समय में उस संप्रदाय का क्या नाम था, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। कोई-कोई इस संप्रदाय को अघोरी या अघोरपंथी कहते हैं। कोई इस समाज को तांत्रिक कहते हैं। वास्तव में अघोरी शैव भी तांत्रिक संप्रदाय में ही हैं। मालूम होता है, इस संप्रदाय से भवभूति को कुछ भी सहानुभूति न थी। जिस संप्रदाय में धर्म के नाम पर नर-हत्या तक की जाती थी, नर-कपाल को धारण करना ही जिस संप्रदाय की ध्वजा थी, वह संप्रदाय भवभूति-जैसे सहृदय पुरुष की दृष्टि में क्या गौरव प्राप्त कर सकता था? भवभूति ने मालती-माधव के धीर प्रशांत नायक माधव द्वारा इस संप्रदाय के प्रधान गुरु अघोरघंट का वध कराकर मानों अपना मत व्यक्त किया है। अघोरपंथी शैव लोगों का आदि-स्थान वरपुत्र, अंचल या वरदा-प्रदेश है। काठियावाड़, राजवाड़ आदि स्थानों में भी अनेक अघोरी रहते थे। राजवाड़ के आबू पहाड़ पर अब भी अनेक अघोरी दिखाई पड़ते हैं।

---

* सौदा०—गुरुचर्य्या तपस्तन्त्र मंत्र, योगाभियोगजाम्।
ध्मामाद्धेपर्णो सिद्धिमातनोति शिवाय वः॥ (मालती, ६)

वैदिक समाज

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु-नामक चार आश्रमों का विशद वृत्तांत यदि किसी को संक्षेप में जानना हो, तो वह भवभूति के वीर-चरित और उत्तर-चरित नाटक पढ़े। उत्तर-चरित के चौथे अंक में भांडायन, सौधातकि आदि ब्राह्मण ब्रह्मचारियों और दूसरे अंक में लव, कुश आदि क्षत्रिय ब्रह्मचारियों के दैनिक काम देखकर मालूम होता है कि पढ़ने के समय वे लोग किस तरह रहते थे। वसिष्ठ के आने पर वाल्मीकि की पाठशाला में जब छुट्टी हो गई, तब भांडायन ने बड़ी खुशी से कहा—

"अपूर्व कोऽपि वहुमान हेतुगुरुषु सौधातके।"

'हे सौधातकि, गुरुओं में असाधारण सम्मान का कुछ कारण अवश्य होता है।'

इसके बाद शिष्टानध्याय हो जाने के कारण वाल्मीकि की पाठशाला के बालक खुश होकर खेलने लगे। उत्तर-चरित के चौथे अंक में जनक ने लव की पोशाक के वर्णन के बहाने क्षत्रिय ब्रह्मचारी के लक्षणों को बताया है। जनक कहते हैं—

चूड़ाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणी द्वयं पृष्ठतः
भस्मस्तोक पवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम्।
मौर्व्या मेखलया नियंत्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठकम्
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्र वलयं दण्डो परः पैप्पलः॥ (उत्तर, ४)

"इस बालक की पीठ पर दोनों ओर दो तूणीर बँधे हुए हैं। तूणीर में रक्खे बाणों के सिरे से बालक की चोटी का स्पर्श हो रहा है। इस बालक के वक्षःस्थल पर भस्म लगी हुई है, और

रूरु-मृग के चमड़े से वह ढका हुआ है। मजीठ के रंग से रँगी हुई और मुर्वी तंतु से बुनी हुई यह धोती पहने हुए है। इसके हाथ में जप करने के लिये माला, धनुष और पीपल का दंड है।'

उत्तर-चरित के दूसरे अंक में आत्रेयी, लव और कुश के जातकर्म, चूड़ाकर्म, उपनयन और वेदाध्ययन आदि संस्कारों का वृत्तांत लिखा हुआ है। वीर-चरित के प्रथम अंक में रामचंद्र आदि के दीक्षा-ग्रहण, गोदान-मंगल और विवाह-संस्कार का वर्णन है। भवभूति ने साग्निक गृहस्थ के दृष्टांत के तौर पर वीर-चरित के चौथे अंक में विश्वामित्र और उत्तर-चरित के प्रथम अंक में जनक ऋषि के नित्य कर्मों का उल्लेख किया है। वीर-चरित और उत्तर-चरित के दूसरे अंक में अतिथि-सत्कार की प्रणाली और उसकी प्रयोजनीयता को बहुत ही अच्छी तरह दिखाया है। ब्राह्मण परशुराम को क्षत्रिय रामचंद्र के विरुद्ध युद्ध के लिये आया सुनकर जनक शतानंद से कहते हैं—

ऋषिरयमतिथिश्चेत् विष्टरैः पाद्यमर्घ्यम्
तदनु च मधुपर्कः कल्प्यतां श्रोत्रियाय।
अथतुरिपुरकस्मात् द्वेष्टिनः पुत्रभाण्डे
तदिह नयविहीने कार्मुकस्याधिकारः॥

(वीर-चरित, २)

'यह जामदग्न्य ऋषि यदि अतिथि-रूप से आए हैं, तो उन्हें आसन, पाद्य, अर्घ्य और मधुपर्क दीजिए; और यदि ये हमारे पुत्र-तुल्य रामचंद्र से शत्रुता करने के लिये आए हैं, तो इस नीति-हीन ब्राह्मण की सेवा हमें धनुष से ही करनी होगी।'

उत्तर-चरित के दूसरे अंक में आत्रेयी के आगमन से प्रसन्न

होकर वन-देवता फल-फूल और पत्ते बखेरकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं और कहते हैं—

यथेच्छा भोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः
सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।
तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां योग्यमशनम्
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥
(उत्तर, ७२)

'इस वन में उत्पन्न हुए द्रव्यों का आप इच्छानुसार भोग कीजिए। आज हमारे सौभाग्य का दिन है कि आपके दर्शन हुए, विना पुण्य-फलों के उदय हुए सज्जनों का समागम नहीं होता। वृक्षों की छाया, झरनों का जल और फल-मूल आदि तपस्वियों का भोजन है। यहाँ पर जो कुछ है, उसे आप अपना ही समझें, पराया नहीं।'

वीर-चरित के तीसरे अंक में लिखा है कि जो लोग इष्टा-पूर्त्त कर्मों में विघ्न डालते थे, राजा दशरथ उनका दमन करते थे।

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानाञ्चैव पालनम्
आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते।
वापीकूपतड़ागादिदेवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥

* * * *

इष्टेन गमते स्वर्गं पूर्त्तेन मोक्षमाप्नुयात्।
(अत्रिः)

महर्षि अत्रि लिखते हैं—'अग्निहोत्र, तपस्या, सच बोलना, वेद-रक्षण, अतिथि-सत्कार और वैश्वदेव ये सब यज्ञ कहाते हैं। बावड़ी, कुआँ और तालाब खुदवाना, अन्न-दान, बाग़ लगवाना,

ये सब पूर्त्त कहाते हैं। यज्ञ से स्वर्ग और पूर्त्त से मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

वीर-चरित के तीसरे अंक में श्रेष्ठ ब्राह्मण के कर्तव्य-कर्मों का आभास दिया गया है। वशिष्ठ परशुराम से कहते हैं—

"अयि वत्स, किमनया यावज्जीवमायुधपिशाचिकया ? श्रोत्रियोसि जामदग्न्यपूतं भजस्व पन्थानमारण्यकश्चापि तत्प्रचिनु चित्तप्रसादनीश्चतस्रो मैत्र्यादिभावनाः। प्रसीदतु हि ते विशोका ज्योतिष्मती नाम चित्तवृत्तिः। समापयतु परशुं च। तत्प्रसादजं ऋतम्भराभिधानमवहिःसाधनोपाधेयसर्वार्थसामर्थ्यमपविद्धप्लवो परागमूर्जस्वलमन्तर्ज्योतिषो दर्शनं प्रज्ञानमपि संभवति। तद्धि आचरितव्यं ब्राह्मणेन तरति येन मृत्युं पाप्मानम्।"

(वीर, ३)

'हे वत्स, जीवन-भर इस आयुध-पिशाचिका में मत्त रहने से क्या लाभ है ?

हे जामदग्न्य, तुम वानप्रस्थ-धर्मावलंबी ब्राह्मण हो, अतएव तुम्हें पवित्र पथ का अवलंबन करना चाहिए। तुम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार वृत्तियों के अनुशीलन से चित्त को निर्मल करो*। तुम्हारी दुःख-रहित और प्रकाश-स्वरूप

---

* मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाश्चित्तप्रसादनीर्भावनाः। (पातञ्जल—१,३३)

इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—

'सुखितेषु मैत्रीं सौहार्दं भावयत ईर्ष्याकालुष्यं निवर्त्तते चित्तस्य। दुःखितेषु च करुणामात्मनीव परस्मिन्दुःखप्रहाणेच्छां भावयतः परापकारचिकीर्षाकालुष्यं चेतसो निवर्त्तते। पुण्यशीलेषु प्राणिषु मुदितां हर्षं भावयतः असूयाकालुष्यं चेतसो निवर्तते। अपुण्यशीलेषु चोपेक्षां माध्यस्थंभावयतोऽमर्षकालुष्यं चेतसो निवर्त्तते। ततश्चास्य राजसतामसधर्मनिवृत्तौ सात्त्विकः शुक्लो धर्म उपजायत इति।'

चित्त-वृत्ति का उदय हो। परशु का त्याग करो। नित्य सत्य-पूर्ण ऊर्जस्वल (बलवती) और अंतर्ज्योति को प्रकाशित करनेवाली प्रज्ञा की तुम्हें प्राप्ति हो। इस प्रज्ञा को प्राप्त करके तुम्हें सभी शक्तियों की प्राप्ति हो जायगी। फिर किसी कार्य के करने में बाहरी साधन की तुम्हें आवश्यकता न होगी। मल और आवरण के दूर हो जाने पर तुम्हारी प्रज्ञा उलटा काम न करेगी। ब्राह्मण को इसी तरह आचरण करना चाहिए। इसी आचरण के द्वारा ब्राह्मण मृत्यु तक को जीत लेता है।'

उत्तर-चरित के चौथे अंक में लिखा है कि महर्षि जनक पराक* और सांतपन † आदि कठिन तप किया करते थे।

वीर-चरित के पहले अंक में लिखा है कि जनक ने याज्ञवल्क्य से ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति की थी। उत्तर-चरित के दूसरे अंक में लिखा है कि लव और कुश ने वाल्मीकि के पास तीन तरह की विद्याएँ सीखी थीं। आत्रेयी ने दाक्षिणात्य में अपने आने का उद्देश्य वन-देवताओं को इस तरह बताया था—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगंतुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि॥

(उत्तर, २)

---

* द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः। याज्ञवल्क्य-संहिता, ३—३२

† पञ्चगव्यञ्च गोक्षीरदधिमूत्रशकृद् घृतम्।
जग्ध्वा परेऽह्न्युपवसेदेष सान्तपनो विधिः॥

अत्रि-संहिता, ११६

'इस प्रदेश में अगस्त्य आदि सामवेद के जाननेवाले ब्राह्मण रहते हैं, उनसे उपनिषदों की विद्या सीखने के लिये मैं वाल्मीकि के आश्रम से यहाँ आई हूँ।'

वास्तव में इस समय वेद के पढ़ने-पढ़ाने में गुरु-शिष्य लगे रहते थे। भवभूति दक्षिण के रहनेवाले थे। इसलिये उन्होंने कावेरी-नदी के किनारे की भूमि का विशेष वर्णन किया है। कावेरी के किनारे पर बहुत ब्राह्मण वास करते थे। जिन्होंने निरंतर तप और वेदाध्ययन द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था, वे इस स्थान पर हज़ारों वर्ष तक रहे थे। वीर-चरित के सातवें अंक में लिखा है—

रामः। अयं वारां राशिः किल मरुरभूद्यद्विलसितै-
रयं विन्ध्यो येनाहतविहतिराध्मानमजहात्।
विलिल्ये यत्कुक्षिस्थितशिखिनि वातापि वपुषा
सकासां वाणीनां मुनिरकलितात्मास्तु विषयः॥ (वीर, ७)

'जिसकी चेष्टा से महासमुद्र मरु-भूमि बन गया था, जिसके प्रभाव से विंध्य पर्वत ने वृद्धि छोड़कर अपने गर्व का त्याग किया था, जिसकी जठराग्नि में वातापि दानव का देह पच गया था, वही अचिंत्य-माहात्म्य महर्षि अगस्त्य इस कावेरी के तीर पर वास करते हैं।'

जिन शांत मनीषियों ने संसार से चित्त हटाकर वनवास ग्रहण किया था, वे लोग नदी के तीर पर, वृक्ष के नीचे, या पहाड़ की गुहा में, किस तरह, जंगल में पैदा हुए अन्न से अपना पेट भरकर काल-यापन करते थे, उत्तर-चरित के प्रथम अंक में भवभूति ने इन सब बातों का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है।

भवभूति ने ऋष्यशृंग के सोमयाग और रामचंद्र के अश्वमेध का वृत्तांत लिखकर प्राचीन समाज की अवस्था को हमारी आँखों के सामने रख दिया है।

राजा के कुशासन पर किस तरह राज्य-विप्लव उपस्थित होता है, यह वीर-चरित के तीसरे अंक में भवभूति ने दशरथ के मुँह से प्रकट कराया है। उत्तर-चरित के पहले अंक में लिखा है—"पवित्र गंगा-जल के स्पर्श से सगर के साठ हज़ार पुत्रों का उद्धार हुआ था।" वीर-चरित के प्रथम अंक में राम का माहात्म्य वर्णन करते हुए विश्वामित्र कहते हैं—"राम के पाद-स्पर्श से अहिल्या पाप से मुक्त हुई थी।" वीर-चरित के सातवें अंक में अलका के मुँह से कवि ने राम की महिमा कहलाई है। अलका लंका से कहती है—

"इदं हि तत्त्वं परमार्थभाजामयं हि साक्षात् पुरुषः पुराणः।
त्रिधा विभिन्ना प्रकृतिः किलैषा त्रातुं भुवि स्वेन सतोऽवतीर्णा॥"

(वीर, ७)

'परमार्थदर्शियों का सिद्धांत है कि रामचंद्र परमेश्वर हैं और सीता त्रिगुणात्मिका प्रकृति हैं। साधुओं की रक्षा के लिये ये भूतल पर अवतार लेते हैं।'

भवभूति ने प्राचीन समाज का जो प्रकृत चित्र खींचा है, उसके सूक्ष्म वर्णन की यहाँ ज़रूरत नहीं है। इस विषय में इतना कहना ही काफ़ी होगा कि धर्म-शास्त्रकारों ने जितने नियम बनाए हैं, वे दैनिक जीवन में किस तरह पाले जा सकते हैं, इसी बात को दिखाने के लिये वीर-चरित और उत्तर-चरित की रचना की गई थी। वेद, उपनिषद्, धर्म, संहिता, पुराण, रामायण,

महाभारत आदि प्राचीन ग्रंथों से आख्यायिकाएँ लेकर भवभूति ने वैदिक समाज का आदर्श बनाया है। वैदिक समाज के आचार-व्यवहार के अनुसार चलना चाहिए, या भवभूति के समय के समाज * के आचार का प्रतिपालन करना चाहिए, इस विषय में कवि ने स्वयं कुछ नहीं कहा है। देखनेवाले दोनों समाजों के आदर्श को देखकर अपने कर्तव्यों का निर्णय कर लें। †

---

* भवभूति ने कामंदकी को बौद्धोचित वस्त्र पहनाए हैं—

चीर चीवर कामंदकी के वस्त्र थे, रक्त पट्टिका उसका आभूषण था, और वह भिक्षा माँगकर खाती थी—

अव। अच्चरीयं अच्चरीयं जं दाणिं चीरचीवर परिच्छदं पिण्डवाद मेत्त पाण अम्भी म अवदीं ईदिसे आआ से अमच भूरिवसु णिओ एदि। (मालती, १)

ततः परिवृत्य रक्त पट्टिका नेपथ्ये कामन्दक्यवलोकिते प्रविशतः। (मालती, १)

† जिस समय हमने यह निबंध पढ़ा था, उस समय बंगीय साहित्य-परिषद् के सभ्य श्रीयुत बाबू मनोमोहन वसु महाशय ने कहा था—

"कविवर भवभूति ने वैदिक धर्म को जन-साधारण में प्रवर्त्तित करने के लिये ही प्राचीन वैदिक समाज का और अपने समय के अधःपतित बौद्ध और तांत्रिक समाज का चित्र अंकित किया था, इसमें क्या प्रमाण है ? काव्य लिखते समय स्वयं ही उस समय का चित्र खिंच जाता है।"

इसके उत्तर में साहित्य-परिषद् के अन्यतम सभासद् श्रीयुत पंडित शरच्चंद्र शास्त्री महाशय ने कहा था—

"भवभूति ने बौद्ध और तांत्रिक धर्म से जन-समाज का चित्र हटाने के लिये ही अपने तीनों नाटकों को बनाया था। इसका प्रमाण उनके काव्य-त्रय के समाज-चित्रों से ही अच्छी तरह मिलता है। उन्होंने वैदिक समाज के चित्र को इतना पवित्र और महत् करके दिखाया है कि उसे देखकर मनुष्य की चित्तवृत्ति

भवभूति ने चैतन्य-ज्योति ब्रह्म को नमस्कार करके वीर-चरित आरंभ किया है*। वीर-चरित और मालती-माधव की प्रस्तावना में कवि ने सूत्रधार के मुँह से यथा-नियम अपना परिचय कराया है। वीर-चरित के प्रथम अंक में लिखा है—

भवभूति का परिचय

"अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्र केचित्तैत्तिरीयिणः काश्यपाश्चरणगुरुवः पंक्तिपावनाः पंचाग्नयोधृतव्रताः सोमपीथिना उडुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रविशंति। तदामुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पंचमः सुगृहीत नाम्नो भट्ट गोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्त्तेर्नील-कंठस्यात्मसंभवः श्रीकंठपदलाञ्छनो भवभूतिर्नाम जातूकर्णीपुत्रः कविर्मित्र-धेयमस्माकमित्रत्यभवन्तो विदां कुर्वन्तु।

श्रेष्ठः परमहंसानां महर्षिणामिवाङ्गिराः।
यथार्थनामाभगवान् यस्यज्ञाननिधिर्गुरुः॥ (वीर-चरित, १)"

'दक्षिणापथ के विदर्भ-देश में पद्मपुर नाम का एक नगर है। इस नगर में यजुर्वेद की तैत्तरीय-शाखावाले, काश्यपगोत्र, धर्मानुष्ठान करनेवाले, पंक्तिपावन, पंचाग्निक और सोमयज्ञ

स्वयं ही उस ओर को चलने लगती है। फिर उन्होंने मालती-माधव के तांत्रिकों के कामों की भीषण नीति-भ्रष्टता और हिंसा-प्रवणता का ऐसा वर्णन किया है कि जिसमें कुछ भी विचार-शक्ति है, वह उस तरह के धर्म को ग्रहण तो क्या करेगा, बल्कि, यदि वह उस धर्म में होगा, तो तत्काल उससे अलग हो जायगा।

* अथ स्वस्थाय देवाय नित्याय, हतपाप्मने।
त्यक्तक्रमविभागाय चैतन्यज्योतिषे नमः॥ (वीर-चरित)

करनेवाले सुप्रसिद्ध ब्रह्मवादी ब्राह्मण बसते हैं। उनके वंश में वाजपेय-यज्ञ के करनेवाले पूज्य महाकवि गोपाल भट्ट पैदा हुए। उनके पोते और पवित्र-कीर्ति नीलकंठ के पुत्र भवभूति को श्रीकंठ की उपाधि मिली। भवभूति की माता का नाम जातुकर्णी और गुरु का नाम भगवान् ज्ञाननिधि है।'

उत्तर-चरित की टीका में स्वर्गीय विद्यासागर ने लिखा है—"भवभूति की माता जातुकर्ण-गोत्र में उत्पन्न हुई थीं। इसीलिये उनका नाम जातुकर्णी था *। हरिवंश के अध्याय ४२ में जातुकर्ण नाम के एक ऋषि का परिचय मिलता है।

नवमे द्वापरे विष्णोरष्टाविंशे पुरा भवत्।
वेदव्यासस्तथा जज्ञे जातूकर्णपुरःसरः॥

(हरिवंश, ४२)"

यह ऋषि गोत्र-प्रवर्त्तक थे या नहीं—इस बात का पता नहीं चलता। स्मृतिकार हेमाद्रि ने इन्हें उपस्मृति का बनानेवाला बताया है—

व्याघ्रः कात्ययनश्चैव जातूकर्ण कपिञ्जलः।
उपस्मृतय इत्येताः प्रवदंति मनीषिणः॥

(हेमाद्रि)

दिव्यावदान नाम के प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ के तैंतीसवें अध्याय में, जहाँ वेद के विभाग का वर्णन है, लिखा हुआ है—

"अध्वर्य्यूणां मते ब्राह्मणः सर्वे ते अध्वर्य्यवो भूत्वा एक विंशतिधा भिन्नाः। तद्यथा कठाः कणिमा वाजसनेयिनो जातुकर्णाः प्रोष्ठपदा ऋषयः।

* जातूकर्ण गोत्र संभवत्वात् भवभूति जनयित्री जातूकर्णी इत्यभ्यधायि
(उत्तर-चरित, टीका, १)

इतीयं ब्राह्मणाध्वर्य्यूणां शाखा। एक विंशत्यध्वर्य्यवो भूत्वा एकोत्तरं शतधा भिन्नम्।"

(दिव्यावदान का मिस्टर कॉवेल-संपादित संस्करण, ३३-६३३)

इस ग्रंथ के अनुसार यजुर्वेद की ६ शाखाएँ और १०१ प्रशाखाएँ हैं। इन्हीं शाखाओं में एक जातुकर्ण है। दिव्यावदान-ग्रंथ के मतानुसार अनुमान होता है कि भवभूति के मातामह यजुर्वेद की जातुकर्ण-शाखा के अंतर्गत थे, और इसीलिये भवभूति की माता जातुकर्णी-नाम से प्रसिद्ध हुई।

भवभूति की जन्म-भूमि विदर्भ-देश आजकल 'बरार'-नाम से प्रसिद्ध है। मालती-माधव में लिखा हुआ है कि भवभूति के समय में विदर्भ की राजधानी कुंडिनपुर थी। किंतु इस समय इस राजधानी को विहार कहते हैं। जिस पद्मपुर-नगर में भवभूति ने जन्म लिया था, वह इस समय जन-शून्य है, और वहाँ पर बड़ा भारी वन है। मालती-माधव के नवें अंक में भवभूति ने पद्मावती-नगरी का वर्णन किया है। इसी नगरी में मालती और माधव का विवाह हुआ था, और इसी के पास श्मशान में चामुंडा का मंदिर था।

भवभूति का जन्मस्थान

पारा, लवणा और मधुमती नाम की तीन नदियाँ * इस

*सौदामिनी—पद्मावती विमलवारि विशालसिंधु
पारासरित् परिकरच्छलतो विभर्त्ति।
उत्तुङ्ग सौध सुरमंदिर गोपुराट्ट
संघट्ट पाटित विमुक्तमिवान्तरीक्षम्॥

नगरी में बहती थीं। मधुमती के किनारे सुवर्ण-विंदु नाम के शिव का मंदिर था। श्रीयुत वी. एस. आपटे महोदय कहते हैं—"मालवा में सिंधु-नदी के किनारे आज-कल का नरवर-प्रदेश ही भवभूति के समय में पद्मावती के नाम से प्रसिद्ध था। भवभूति ने जिन पारा, लवणा और मधुमती नदियों का वर्णन किया है, वे आजकल पारा, लून और मधुवर नामों से प्रसिद्ध हैं।"

मालती-माधव का घटना-स्थल

मालती-माधव के दशवें अंक में एक और नदी का उल्लेख है। उसका नाम पाटलावती † है। वह पद्मावती-नगरी के पास ही बहती थी।

इस समय इस नदी का अस्तित्व है या नहीं, इसका कुछ पता नहीं। आठवीं, नवीं और दशवीं शताब्दी की तिब्बती

अपिच

सैषा विभाति लवणा ललितोर्मिपंक्ति-
रभ्रागमे जनपदप्रमदाय यस्याः।
गोगर्भिणीप्रियनवोलपमालभारि
सेव्योपकण्ठविपिना बलयो विभान्ति॥

* * * * * *

अयश्च मधुमती सिंधुसंभेदपावनो भगवान् भवानीपतिः अपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्ण-बिंदु इत्याख्यायते। (मालती, ९)

† मकरंदः—
भवतु अमुष्मादेव गिरिशिखरात्पाटलावत्यां निपत्य माधवस्य मरणाग्रसरो भवामि। (मालती, ९)

पुस्तकों में जिस पाटलावती-नदी का वर्णन मिलता है, मालूम होता है, वही भवभूति की पाटलावती है। तिब्बती भाषा में इस नदी का नाम कनरदन्म (Skya-naridnma) है। 'कनर' का अर्थ है पीली और लाल आभावाली, 'दन्म' का अर्थ है जल। अतएव तिब्बती भाषा के इन शब्दों का अर्थ हुआ—'पीत-रक्ताभ जल-विशिष्ट,' अर्थात् जिसमें पीले और लाल रंग की आभावाला जल हो।

अबतक जितने प्रमाण मिले हैं, उनसे ऐतिहासिकों ने निश्चय किया है कि भवभूति ने अष्टम शताब्दी के प्रारंभ में अपने तीनों ग्रंथ बनाए। राम और सीता के चरित्र को लेकर संस्कृत में अनेक नाटकों की रचना हुई है। साहित्यदर्पणकार ने जिन नाटकों का उल्लेख किया है, उनके नाम नीचे लिखे जाते हैं—

भवभूति का प्रादुर्भाव-काल

वीर-चरित	बाल-रामायण	राघवाभ्युदय	उत्तर-चरित
उदात्त-राघव	कृत्या-रावण	महा-नाटक	छलित-राम
रामाभिनंद	प्रसन्न-राघव	कुंदमाला	रामाभ्युदय
अनर्घ-राघव		जानकी-राघव	
राघवानंद		राघव-विलास	

इनके सिवा विलसन साहब ने 'अभिराम मणि'-नामक एक और नाटक का उल्लेख किया है। हॉल साहब के ग्रंथ में 'अमोघ-राघव' और 'महावीरानंद' नाम के दो ग्रंथों का उल्लेख है। श्रीयुत आनंदराम बरुआ महाशय ने अनेक युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है कि भवभूति के वीर-चरित और उत्तर-चरित नाटक ही सब में प्राचीन हैं।

कालिदास और भवभूति के काव्यों की परस्पर तुलना करने से यह बात साफ़ हो जाती है कि ये दोनों कवि एक समय में उत्पन्न नहीं हुए हैं। कालिदास की सरल और स्वाभाविक कविता को पढ़ने से यह अनुमान होता है कि वह भवभूति से बहुत पहले परलोक-गमन कर चुके थे। भवभूति के काव्य में दीर्घ समास के अनेक प्रयोग देखकर मालूम होता है कि बाणभट्ट और दंडी जिस युग में मौजूद थे, उसी समय या उसके कुछ बाद वह प्रादुर्भूत हुए थे।

राजतरंगिणी के चौथे अंक के श्लोक ११४ में लिखा है—

> कविर्वाक्पति राजश्री भवभूत्यादिसेवितः।
> जितो ययौ यशोवर्म्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥

'वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवित यशोवर्मा ने ललितादित्य से पराजित होकर उसकी स्तुति की।'

इस श्लोक के अनुसार भवभूति कान्यकुब्जाधिपति यशोवर्मा की सभा में मौजूद थे। यशोवर्मा * को काश्मीर के राजा ललितादित्य ने हराया था। जनरल कनिंगहम के मत में ललितादित्य ने ६९३ ई० से ७२९ ई० तक राज्य किया था। इस

---

* मंतव्य-प्रकाश के समय डा० रजनीकांत सेन एम० डी० महोदय ने कहा था—"ललितादित्य के समसामयिक कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा आठवीं शताब्दी में नहीं हुए हैं। वह सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में मौजूद थे। उन्होंने यह भी कहा कि हर्षवर्द्धन और शिलादित्य एक व्यक्ति नहीं हैं। वे यशोवर्मा से पहले और पीछे यथाक्रम कान्यकुब्ज के राजा हुए थे। व्हेनसाँग शिलादित्य के समय में भारत में आया था।

हिसाब से भवभूति आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में कान्यकुब्ज-नरेश की सभा में मौजूद थे। *

राज-तरंगिणी के मत में वाक्पतिराज नाम के एक और कवि यशोवर्मा की सभा में मौजूद थे। परलोक-वासी डॉक्टर जॉर्ज बूलर ने वाक्पतिराज-कृत 'गौड़ वहो' नाम के एक प्राकृत-ग्रंथ का आविष्कार किया है। बंबई के एस० पांडुरंग ने इस ग्रंथ का बढ़िया संस्करण निकाला है। इस काव्य में जो वृत्तांत लिखे हैं, उनसे पता चलता है कि यशोवर्मा ने गौड़-राज को पराजित किया था। वाक्पतिराज ने अपना परिचय देते हुए लिखा था—

"भवभूति-समुद्र से जो काव्यामृत निकाला गया है, उसकी कुछेक बूँदें उसके 'गौड़ वहो'-काव्य में साफ़ दिखाई पड़ेंगी।"

भवभूति आठवीं शताब्दी में विद्यमान थे, 'गौड़ वहो' काव्य के प्रमाण से यह बात दृढ़ हो गई।

बालरामायण-नाटक में राजशेखर ने लिखा है—

> बभूव वल्मीकिभवः कविः पुरा
> ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
> स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
> स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
> (बाल-रामायण)

---

* "यच्च किल कौशिकी शकुन्तला दुष्यन्तमप्सराः पुरूरव सश्चकमे, इत्याख्यानविद आचक्षते वासवदत्ता च राज्ञे सञ्जयाय पित्रा दत्तमात्मानमुदयनाय प्रायच्छत् इत्यादि तदपि साहसिक्यमित्यनुपदेष्टव्य कल्पम्।" (मालती २)

इस स्थल को पढ़ने से मालूम होता है कि भवभूति ने कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतल और विक्रमोर्वशी की तरफ़ इशारा किया है।

'पहले वाल्मीकि, फिर भर्तृहरि, भूमंडल पर उत्पन्न हुए; फिर भवभूति के नाम से जो कवि पृथ्वी पर पैदा हुआ, वही राजशेखर-रूप में अब वर्त्तमान है।'

इस श्लोक से मालूम होता है कि बालरामायण-प्रणेता राजशेखर से पहले भवभूति की मृत्यु हो गई थी। माधवाचार्य ने शंकर-दिग्विजय में लिखा है—"बालरामायण-प्रणेता राजशेखर शंकराचार्य के सम-सामयिक थे।" इस मत से निर्णय होता है कि आठवीं शताब्दी के अंत में, या नवीं शताब्दी के आरंभ में, राजशेखर जीवित थे। पहले ही कहा जा चुका है कि भवभूति की मृत्यु के बाद राजशेखर का जन्म हुआ है। इसलिये भवभूति का समय आठवीं शताब्दी के प्रारंभ में मानना कुछ असंगत नहीं है।

"भारत के मध्य-प्रदेश के इंदौर-नगर में मालती-माधव की एक हस्त-लिखित * प्रति मिली है। उसके तीसरे अंक के अंत में 'इतिकुमारिलशिष्यकृते,' छठे अंक के अंत में—'इति कुमारिल स्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभव श्रीमदुम्बेकाचार्य्यविरचिते मालती-माधवे षष्ठोऽङ्कः' और दसवें अंक के अंत में—'इति भवभूतिविरचिते मालतीमाधवे दशमोऽङ्कः' लिखा हुआ है। इसे देखकर कोई-कोई पंडित भवभूति को कुमारिल का शिष्य मानते हैं।"†

कुमारिल भट्ट सातवीं शताब्दी के अंतिम भाग में विद्यमान

* श्रीयुत बाबू नगेंद्रनाथ वसु-संकलित 'विश्वकोश', कुमारिल भट्ट का प्रस्ताव।

† वी० एस० पांडुरंग की लिखी 'गौड़ वहो' की प्रस्तावना का पृष्ठ २०६ देखिए।

थे। अतएव उनके शिष्य श्रीकंठ—भवभूति—ने आठवीं शताब्दी के आरंभ में ही अपने तीनों ग्रंथों को बनाया होगा। *

मालती-माधव की भूमिका में डॉक्टर भांडारकर ने लिखा है—"पंडित-समाजमें यह प्रवाद प्रचलित है कि भवभूति कालिदास के सम-सामयिक हैं। इस प्रवाद का मूल तत्त्व नीचे लिखा जाता है। भवभूति उत्तर-चरित को समाप्तकर कालिदास के पास गए, और अपने ग्रंथों के विषय में उनकी सम्मति जाननी चाही। कालिदास उस समय चौसर खेल रहे थे। इसलिये उन्होंने भवभूति से कहा कि आप अपने काव्य को ऊँचे स्वर से पढ़िए। आदि से अंत तक सुनकर कालिदास ने बहुत संतोष प्रकट किया, और कहा—'काव्य अत्यंत मनोहर हुआ है। किंतु—

किमपि किमपि मंदं मंदमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरंभव्यापृतैकैकदोष्णे-
रविदित गतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्॥

(उत्तर, १)

इस श्लोक के चौथे चरण में एवं-शब्द में एक अनुस्वार अधिक है।' भवभूति ने कालिदास के उपदेशानुसार 'रात्रिरेव

---

* श्रीयुत बाबू नगेंद्रनाथ वसु महाशय ने मंतव्य पढ़ते समय कहा था कि आज़मगंज में कुछ जैन-ग्रंथों की आलोचना से उन्हें मालूम हुआ है कि बंगाल के जैन-पंडित बप्पभट्ट के साथ भवभूति का साक्षात्कार हुआ था। बप्पभट्ट ने भवभूति को जैन-संप्रदाय में शामिल करने की चेष्टा की थी। भवभूति वंग-राजधानी में आए।

व्यरंसीत्' पाठ कर दिया।" इस प्रवाद पर ही भवभूति को कालिदास का सम-सामयिक बताना ठीक मालूम नहीं होता। परंतु उत्तर-चरित की किसी-किसी हस्त-लिपि में 'रात्रिरेवं' और 'रात्रिरेव' दोनों पाठ मिलते हैं। भोज-प्रबंध में लिखा है—

"वाराणसीदेशादागतः कोऽपि भवभूतिर्नाम कविर्द्वारि तिष्ठति।"

अर्थात्—बनारस से आया हुआ भवभूति नाम का कोई कवि बाहर खड़ा हुआ है। मुंज के भतीजे का नाम भोजदेव था। यदि भोजदेव के समय में भवभूति आए थे, तो वे ग्यारहवीं शताब्दी में खिसक आयँगे। किंतु भोजदेव के चाचा के समय में दशरूपक-नामक अलंकार का जो ग्रंथ बना था, उसमें भवभूति के नाटक में से कुछ श्लोक उद्धृत हुए थे। इसलिये, भवभूति मुंज से पहले हुए हैं, यह बात एक तरह से निश्चित है। ऐसी दशा में भोज-प्रबंध का मत बिलकुल असंगत मालूम पड़ता है। भोज-प्रबंध को सबने ही असार माना है। जो प्रबंध कालिदास, माघ और मल्लिनाथ को एक सूत्र में बाँधता है, उसमें विचार की मात्रा कितनी अधिक है, यह सहज ही में अनुमान हो सकता है। 'भोज' वंश का नाम है, इस लिये किसी प्राचीन भोज के राज्य में भवभूति का आना कुछ असंभव नहीं है। इन सब कारणों से भवभूति का काल ग्यारहवीं शताब्दी मानना ठीक नहीं है।

भवभूति के काव्यों के देखने से पता चलता है कि उनके समय में उपनिषद् आदि की खूब आलोचना होती थी। उत्तर-चरित के छठे अंक में भवभूति ने एक सामान्य उपमा द्वारा वेदांत का मर्म बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है—

वेदांत दर्शन

विद्या कल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि ।
ब्रह्मणीव विवर्त्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः ॥ (उत्तर, ६)

'जिस तरह तत्त्व-ज्ञान के उदय होने पर जितने विवर्त्त हैं, सब ब्रह्म में लय हो जाते हैं, उसी तरह हवा के झोंके से बादल न मालूम कहाँ लीन हो गए।'

जो लोग शंकराचार्य को विवर्त्तवाद का प्रवर्त्तक समझते हैं, वे उत्तर-चरित में विवर्त्त-मत का इस तरह स्पष्ट उल्लेख देखकर भवभूति को शंकराचार्य के बाद उत्पन्न हुआ समझेंगे। * किंतु अच्छी तरह आलोचना करने से मालूम होगा कि बौधायन ऋषि ने शंकराचार्य † से कई शताब्दियों पहले जन्म लेकर ब्रह्म-सूत्र पर जो भाष्य बनाया था, उसमें विवृत-मत छिपा हुआ है।

* श्रीयुत राय यतींद्र चौधरी एम० ए० महाशय ने कहा था कि रामानुज ने अपने मत के स्थापन और शंकराचार्य-मत के खंडन के लिये बौधायन-भाष्य उद्धृत किया है। उनका अनुरोध है कि मैं यह निर्णय करूँ कि बौधायन-भाष्य शंकर-भाष्य का समर्थक है या नहीं।

† १३०५ बंगला-संवत् के वैशाख मास में कृष्णनगर की राजवाड़ी में द्वारका के शारदा-मठ के स्वामी जगद्गुरु शंकराचार्य के साथ हमारा साक्षात् हुआ था। उन्होंने कहा था—"२५०० वर्ष पहले आदिगुरु शंकराचार्य ने बौद्ध आदि नास्तिक समुदायों को जीतकर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा की थी। पहले शंकराचार्य के मत में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' का अर्थ 'श्रुति' और 'अनुमान' का अर्थ 'शिष्टाचार' था।" जगद्गुरु के साथ कुछ ताम्र-लेख थे, जिनसे वे शंकराचार्य का समय विक्रम से सौ वर्ष पहले बताते थे। विक्रमादित्य को यदि छठी शताब्दी का माना जाय, तो शंकराचार्य को पाँचवीं शताब्दी का मानना होगा। शंकराचार्य ने ७८५ ई० में जन्म लिया था, इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं।'

(विंध्येश्वरी प्रसाद दोबर की वैशेषिक-सूत्रों की भूमिका देखनी चाहिए)

वास्तव में 'विवृत' शब्द का शंकराचार्य ने आविष्कार नहीं किया है। उनसे अनेक शताब्दियों पहले से ही यह शब्द इसी पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत होता आया है।

उत्तर-चरित को विचार-पूर्वक पढ़ने से पता चलता है कि भवभूति का जन्म शंकराचार्य से कई शताब्दियाँ पहले हुआ था। उत्तर-चरित के चौथे अंक में लिखा है—

"अन्धतामिस्रा ह्यसूर्य्या नाम ते लोकाः प्रेत्य तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते ये आत्मघातिन इत्येवं ऋषयो मन्यन्ते।" (उत्तर, ४)

'ऋषि कहते हैं कि जो आत्महत्या करते हैं, उन्हें ऐसे अँधेरे लोक में वास करना पड़ता है, जहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं पहुँचता।'

उत्तर-चरित में से जो वाक्य ऊपर उद्धृत हुआ है, उसे भवभूति ने वाजसनैय संहितोपनिषद् के नीचे-लिखे श्लोक का अवलंबन करके लिखा है—

"असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्यभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

इस श्लोक का भी वही अर्थ है, जो उत्तर-चरित के उपर्युक्त

विवर्त्तवाद के प्रवर्तक शंकराचार्य नहीं हैं, उनसे पहले भी यह मत भारतवर्ष में प्रचलित था। वेदांत-सूत्र और उपनिषदों में विवर्त्तवाद का उल्लेख है। बौद्धों में भी इस मत का ईसा से ५ या ६ शताब्दी पहले प्रचार होना आरंभ हो गया था। प्रज्ञापारमिता माध्यमिक सूत्र आदि अति प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में विवर्त्त-मत का बहुत ही अच्छी तरह वर्णन है। योरप के विद्वानों के मत में भी शंकर से पहले विवर्त्तवाद मौजूद था।

अध्यापक मैक्समूलर ने हमें लिखा था—

वाक्य का लिखा गया है। भवभूति ने उपनिषद् के उक्त वाक्य का सीधा अर्थ ग्रहण किया है। किंतु शंकराचार्य ने वाजसनेयोपनिषद् पर जो भाष्य लिखा है, उसके अनुसार उक्त श्लोक का अर्थ इस तरह भी हो सकता है—

January 22-,99.

DEAR SIR,

Accept my best thanks for the numbers of the Journal of the Buddhist Text Society which you kindly sent me. I have been a reader of your Journal from the beginning, because it really contained important original contributions. Your articles on the Madhyamika Philosophy were full of interest to me, but you may imagine what a disappointment it is when the numbers of your Journal suddenly stop in the midst of a most interesting subject. The Numbers IV, 2, 3, 4 have never reached me, and I shall feel much obliged if you would send them to me. I need not tell you that I read what you gave us of the Madhyamika Sutras with the greatest interest. We have no *Mss.* in England of these Sutras, and they were just new to me. As far as I can judge these Sutras pre-suppose the existence of the Vedanta Philosophy, not exactly the Sutras of Badhrayana, such as we have them, but in some form or other, and always founded in Upnishads. But you must not attribute too much weight to my opinion in this matter, as I have no time yet to read the Madhyamika Sutras carefully and critically. When the Padma Purana speaks of the Mayavada, he meant teaching of Sankara rather than that of Badhrayana. The Upnishads do not mentio Maya in

place of Avidya. Prachhanna Bouddha is a Crypto Buddhist, a man who calls himself a Vedantist, but really teaches the extreme view of the Bouddhas.

You should certainly publish your articles on the Madhyamika Sutras separately, as a complete edition. Your article on Nirvana is too excellent and exhaustive and reflects the greatest credit on your scholarship. You have great advantages in India and I am glad to see that you know how to avail yourself of them.

I am myself hard at work with Six Systems of Indian Philosophy and hope soon to publish a book on them. But it will be very imperfect I know, a mere beginning, and there is plenty of works left to do for younger scholars.

With best thanks and best wishes
Yours sincerely,
Maxmuller.

To

Satish Chandra Acharya Vidyabhusana, M. A., Professor of Sanskrit, Krishnagdr College, Buddhist Text Society; Calcutta.

× × × ×

DEAR SIR,

I am very happy to have received this morning your kind letter and I beg to congratulate you for the gentle sending of three fase of the J. of B. T. S.

I have read with much pleasure and profit your translation of the Madhyamika Sutras, with extracts

आत्मा के साक्षात्कार से उनके कर्मों का नाश, अतएव पुनर्जन्म की निवृत्ति हो जाती है, और उन्हें मुक्ति मिल जाती है। जो

---

of the *tika* of Chandra Kirti, and it is a pity if your intention of publishing this translation in a complete Volume, does prevent you of publishing the same work in the Journal. I hope your work shall promptly come to; and nobody will read it with more attention than myself.

As the little paper I send you by the same mail shall show, I believe *that it is not impossible* that the Buddhist Speculation went for a part, as a ferment, in the development of the doctrine of Maya. But it seems to me very audacious to say more, or to try more precise explanation. It is not definitely settled that the doctrine of Maya was unknown to the pre-historic authors of the Upanishads. But ofcourse Brahma or Sunyata, that seems to be quite the same.

It is only by the special researches, that facts can be established.

Your article on Nirbana is one of the best essays on the subject. You quote so many authorities which were unknown to every Oriental Scholar; your contribution to the life of Nagarjuna is very new and useful.

Believe me, Dear Sir,

Yours very faithfully

Luis Dela Vallee Poussin.

To

Pt. Satish Chandra Acharya Vidyabhushana, M. A.

× × × ×

लोग तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं करते और सदा अविद्या में डूबे रहते हैं, वे आत्मघाती हैं। आत्मघाती या अविद्वान् मनुष्य जबतक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष नहीं करेंगे, तबतक अपने-अपने कर्मों के अनुसार उन्हें असुर आदि अनेक योनियों में घूमना पड़ेगा। ❀

शंकराचार्य विवर्त्तवाद के प्रथम प्रवर्त्तक हैं या नहीं इसके पक्ष और विरोध में जितनी युक्तियाँ और प्रमाण मिल सकते हैं, उन सबका संग्रह करके हमने एक चिट्ठी सर मॉनियर विलियम्स को लिखी थी। किंतु उसका उत्तर देने से पहले ही उनका स्वर्गवास हो गया। उनका अंतिम पत्र नीचे उद्धृत किया जाता है—

January 27., 1899

I am on the Continent and do not expect to return to England till the end of April or beginning of May. Nothing except letters and cards are forwarded to me, but I thank you sincerely by anticipation for sending me the missing numbers of your Journal, which I shall no doubt find at my house awaiting my return home. I shall value them highly. Present my kind rememberances to my old friend Rai Sarat Chandra Das Bahadur and believe me to be

Sincerely Yours,
M. Monier Williams.

× × ×

❀ माननीय श्रीयुक्त द्विजेंद्रनाथ ठाकुर महाशय कहते हैं कि शंकराचार्य से पहले हिंदू और बौद्ध दोनों संप्रदायों में विवर्तवाद प्रचलित था। इस बात का प्रमाण मौजूद है—

"अथ इदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मंत्र आरभ्यते। असूर्य्याःपरमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽपि असुरास्तेषां च स्वभूता असूर्य्याः। नाम शब्दोऽनर्थको निपातः। ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति जन्मानि। अन्धेन अदर्शनात्मकेना-

भवभूति और शंकर की व्याख्या के घोर भेद को देखकर अनुमान होता है कि जिस समय भवभूति ने उत्तर-चरित नाटक बनाया, उस समय वाजसनेय उपनिषद् पर शंकर-भाष्य मौजूद न था। यदि भवभूति शंकर की मनोरम व्याख्या देखते, तो वे उपनिषद् के उस वाक्य का आक्षरिक अर्थ कभी न करते। इस आक्षरिक अर्थ में पुनरुक्ति-दोष भी दिखाई पड़ता है। 'अंधकार से घिरे हुए'—इतना कह देने से ही मालूम हो जाता है कि वहाँ सूर्योदय नहीं होता। इसलिये 'अंधकार से घिरे' के बाद सूर्योदय-हीन कहने की कुछ आवश्यकता न थी।

ऊपर जिन युक्तियों का उल्लेख हुआ है, उनसे सिद्ध हुआ कि भवभूति आठवीं शताब्दी में मौजूद थे। उनसे कुछ पहले और उनके समय में कौन-कौन ग्रंथकार हुए, इसका अनुसंधान करना चाहिए। सातवीं शताब्दी के आरंभ में सुबंधु-नामक कवि ने वासवदत्ता बनाई थी। हर्ष-चरित, कादंबरी और चंडिका-शतक के बनानेवाले सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्ट इसी शताब्दी में कान्य-कुब्ज-नरेश हर्षवर्द्धन की सभा को सुशोभित करते थे। जिस समय चीनी परिव्राजक 'ह्वेन साँग' भारत के विभिन्न प्रदेशों में

सातवीं शताब्दी के ग्रंथकार

ज्ञानेन तमसावृता आच्छादितास्तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वा इमं देहं अभिगच्छन्ति यथ कर्म यथा श्रुतं। ये के चात्महनः। आत्मानं घ्नन्तीति आत्महनः। के ते ये अविद्वांसः। कथं ते आत्मानं नित्यं हि सन्ति। अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मानस्तिरस्करणात्। विद्यमानस्य आत्मनो यत्कार्य्यं फलमजरामरत्वादि संवेदनादि लक्षणं तत्तस्यैव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन उच्यन्ते। तेन हि आत्महनन दोषेण संसरन्ति ते ॥ ३ ॥"—शङ्कर-भाष्यम्

घूम रहे थे, उस समय, अर्थात् ६२९ ई० से ६४५ ई० तक, कान्यकुब्ज-सिंहासन पर हर्षवर्द्धन आरूढ़ थे। इसलिये उनके सभासद वाणभट्ट सातवीं शताब्दी में मौजूद थे। इसमें कुछ संदेह नहीं हो सकता। वाणभट्ट के श्वशुर मयूर कवि * ने इसी समय कुछ रोग से छूटने के लिये सूर्य-शतक बनाया था। सर्व-दर्शन-संग्रहकार माधवाचार्य के मत में दशकुमार और काव्या-दर्श के बनानेवाले दंडी वाणभट्ट के समय में मौजूद थे। मि० तैलंग के मत में मुद्राराक्षस के प्रणेता विशाखदत्त सातवीं या आठवीं शताब्दी में मौजूद थे। इसलिये वे भी भवभूति के सम-सामयिक या कुछ ही पहले के ग्रंथकार हुए।

सातवीं शताब्दी में जितने ग्रंथकारों का जन्म हुआ, वे सभी दीर्घ-समास-प्रिय थे। दंडी ने अपने काव्यादर्श-नामक अलं-कार-ग्रंथ में साफ़-साफ़ लिखा है—"काव्य की असली शक्ति समास-बाहुल्य पर ही निर्भर होती है।"

भवभूति का जन्म इन कवियों के कुछ समय बाद हुआ था; इसलिये वे इस रीति का त्याग नहीं कर सके। उनके काव्य में दीर्घ समासों का स्वराज्य है।

भवभूति के तीनों काव्यों के देखने से पता चलता है कि

---

* यह वी० एस० आपटे महोदय का मत है—

"नवद्वीप-निवासी अपने अध्यापक पंडित-प्रवर श्रीयुत अजितनाथ न्याय-रत्न महाशय से मैंने सुना है कि मयूर कवि वंग-देश की वीरेंद्र-श्रेणी के ब्राह्मण थे। फ़रीदपुर ज़िले में कोडकंदी ग्राम के स्वर्गीय रामधन तर्क-पंचानन आदि भट्टाचार्य महाशय मयूर कवि के वंशधर समझे जाते हैं।"

उनके सम-सामयिक मनुष्यों में उनके काव्य का विशेष आदर नहीं हुआ। उनके बाद उनके उत्तर-चरित और मालती-माधव को पढ़कर लोग उनपर मुग्ध होने लगे। किंतु उनके सामने उनके काव्यों की बड़ी तीव्र आलोचना हुई। उत्तर-चरित के पहले अंक में भवभूति लिखते हैं—

भवभूति की लोक-रंजकता

सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

'अपनी इच्छा के अनुसार निर्भय होकर कविता करनी चाहिए। कविता कैसी ही क्यों न हो, निंदा के हाथ से कवि का छुटकारा नहीं। दुष्ट मनुष्य स्त्रियों के सतीत्व और वाक्य-साधुत्व की सदा निंदा करते रहते हैं।'

मालती-माधव के नवें अंक में वह लिखते हैं—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

'जो लोग मेरे काव्य का अनादर करते हैं, इसका कारण उन्हें ही मालूम होगा; उनके लिये मैंने यह प्रयत्न नहीं किया है। मेरे काव्य को समझनेवाला कोई मनुष्य किसी समय तो उत्पन्न होगा ही, अथवा इसी समय कहीं होगा; क्योंकि समय की अवधि नहीं है, और पृथ्वी का विस्तार भी कम नहीं है।'

इन सब बातों से मालूम होता है कि भवभूति ने समा-लोचकों के कठोर आघात सहने पर भी कविता करनी न छोड़ी। वह अपनी विलक्षण कवित्व-शक्ति को जानते थे, और इसीलिये वे प्रतिपक्षियों के कटाक्षों से भग्नोत्साह न हुए। उसपर उन्होंने उलटा आत्माभिमान प्रकाश किया।

शांतिदेव नाम के एक बौद्ध कवि हुए हैं। उन्होंने शिक्षा-समुच्चय, बौधिचर्यावतार, राष्ट्रपाल-परिपृच्छा आदि कई उत्कृष्ट संस्कृत-ग्रंथ बनाए हैं। किंतु उनके सम-सामयिक व्यक्तियों में, मालूम होता है, उनके ग्रंथों का अधिक आदर न हुआ। समालोचकों के दुर्वाक्य सुनकर भी उन्होंने विनय की पराकाष्ठा दिखाई है। वौधिचर्यावतार-ग्रंथ के आरंभ में वह लिखते हैं—

"नहि किञ्चिदपूर्वमत्र वाच्यं न च संग्रन्थनकौशलं ममास्ति।
अतएव न मे परार्थयत्नः स्वमनो भावयितुं कृतं मयेदम्॥
मम तावदनेन याति वृद्धिं कुशलं भावयितुं प्रसादवेगः।
अथ मत् समधातुरेव पश्येदपरोप्येनमतोऽपि सार्थकोऽयम्॥"

'मैं इस ग्रंथ में कोई अपूर्व बात नहीं कहूँगा, न भाव-संग्रह करने का कौशल ही मुझ में है। बात यह है कि मैं इस काव्य को दूसरों के लिये नहीं बनाता हूँ, बनाता हूँ अपने चित्त को प्रसन्न करने के लिये। यदि मुझ-जैसे किसी अल्पज्ञ व्यक्ति का इस ग्रंथ से कुछ उपकार होगा, तो मेरे चित्त की प्रसन्नता और बढ़ जायगी।'

अहंकार भी यथास्थान प्रयुक्त होने से अच्छा मालूम पड़ता है। भवभूति की जो दशा थी, और भवभूति जैसे कवि थे, उसे देखकर उनके अहंकार की प्रशंसा ही करनी पड़ती है।

भवभूति के तीनों ही नाटक भगवान कालप्रियनाथ के सामने खेले गए थे। कालप्रियनाथ कौन देवता हैं और उनकी

कालप्रियनाथ

मूर्ति किस देश में प्रतिष्ठित है—आदि बातों का ठीक पता नहीं चलता। मालती-माधव के प्राचीन टीकाकार जगद्धर के मत का अवलंबन करके स्वर्गीय

विद्यासागर महाशय ने उत्तर-चरित की टीका में लिखा है कि कालप्रियनाथ की मूर्ति विदर्भ-देश के पद्मनगर में प्रतिष्ठित थी। किंतु मि० विलसन और आनंदराम बरुआ आदि के मत में उज्जयिनी के महाकाल महादेव का ही दूसरा नाम कालप्रियनाथ है। बरुआ महाशय ने बालरामायण से "अयमुज्जयिनी निवासी भगवान् महाकालनाथः" इस वाक्य को उद्धृत करके यह बात प्रमाणित की है। कथासरित्सागर में उज्जयिनी का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

"यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयम्।
शिथिलीकृतकैलासनिवासव्यसनो हरः ॥"

इस श्लोक में शिव का एक नाम 'महाकालवपुः' भी आया है।

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सहप्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥

(रघुवंश, ६, ३४)

कालिदास ने उक्त श्लोक में उज्जयिनी को 'महाकाल-निकेतन' लिखा है।

अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले।
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः ॥

(मेघदूत, १,३५)

मेघदूत के उक्त श्लोक में कालिदास ने उज्जयिनी के शिव को 'महाकाल' लिखा है।

स्कंद पुराण के—

"तथा पुण्यतमं देवि महाकालवन शुभम्,
यत्रास्ते श्री महाकालः पापेन्धन हुताशनः"

इस श्लोक में शिव और महाकाल को एक बताया है।

ऊपर-लिखे श्लोकों के देखने से मालूम होता है कि महाकाल, महाकालनिकेतन, महाकालवपुः, महाकालनाथ और कालप्रियनाथ आदि अनेक नाम उज्जयिनी के प्रसिद्ध महाकाल शिव के लिये ही व्यवहृत हुए हैं।

प्रथम संहिताकार वसिष्ठ

हमारे देश में बहुत आदमियों का विश्वास है कि सब से पहले मनु ने ही धर्म-संहिता बनाई, और वशिष्ठ आदि ऋषियों ने मानव-संहिता का आश्रय लेकर ही अपनी अपनी धर्म-संहिताएँ बनाई। परंतु भवभूति का कुछ और ही मत है। भवभूति के मत में वसिष्ठ प्रथम संहिताकार हैं; मनु आदि ऋषि उनके बाद के हैं। वीर-चरित के चौथे अध्याय में लिखा है—

जाम०—प्राग् धर्म्मस्य भवन्त एव परम द्रष्टार आसन्।
गुरोर्लब्ध्वा ज्ञानमनेकधा प्रवचनैर्मन्वादयः प्राणयन्॥

विश्वामित्र और वसिष्ठ को संबोधन करके परशुराम कहते हैं—"आपने ही सब से पहले धर्म-संहिता बनाई है। बाद को गुरुओं से अनेक प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करके मनु आदि ऋषियों ने धर्म की व्याख्या की है।"❀

❀ भवभूति ने वसिष्ठ-संहिता की भाषा का अनेक स्थानों पर अनुकरण किया है—

"भाण्डायन। समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहु मन्यमानाः श्रोत्रियाय अभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा निर्वपन्ति गृहमेधिन इति हि धर्म्मसूत्रकाराः समामनन्ति।"

(उत्तर-चरित, ४)

"अथापि ब्राह्मणाय राजन्याय वा अभ्यागताय महोक्षं वा महाजं वा पचेदेवमस्यातिथ्यं कुर्वन्तीति।"

(वसिष्ठ-संहिता, ४)

वाल्मीकि

वाल्मीकि और व्यास इन दोनों में कौन पहला है ?—इस विषय पर कुछ वर्षों से पुरातत्व-वेत्ताओं में बहुत वाद-विवाद हो रहा है। अध्यापक लेथब्रिज और डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र आदि पुरातत्व-वेत्ताओं ने मुक्त कंठ से व्यास की प्राचीनता को स्वीकार किया है, और महाभारत के बाद रामायण बनी है, यह सिद्ध किया है। श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त सी० एस०, सी० आई० ई०, महोदय ने वाल्मीकि और व्यास के पौर्वापर्य संबंध में अपना मत स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया। उन्होंने लिखा है—"रामायण से पहले महाभारत मौजूद थी या नहीं, इस पर सभी को ध्यान देना चाहिए।" सुप्रसिद्ध कवि गोरेशियो ने इटालियन भाषा में रामायण का जो अनुवाद किया है, उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है—"रामायण में हिंदू-समाज की अति प्राचीन अवस्था का चित्र खींचा गया है; यह काव्य महाभारत से बहुत पुराना है।" हमारे देश में जो किंवदंतियाँ फैली हुई हैं, यदि उनका तथ्य निकाला जाय, तो भी इस विषय का निर्णय करना बहुत मुश्किल है। प्राचीन लोग कह गए हैं—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

"संसार में जबतक वाल्मीकि थे, तबतक कवि के लिये एक वचन का प्रयोग हुआ करता था। फिर जब व्यास पैदा हुए, तब दोनों के लिए द्विवचनांत 'कवी' शब्द प्रयुक्त होने लगा, और दंडी के जन्म के बाद बहुवचनांत 'कवयः' शब्द का प्रयोग आरंभ हुआ।"

इस प्राचीन उक्ति पर विश्वास करने से व्यास के पहले वाल्मीकि को मानना पड़ेगा। इसी तरह का एक और श्लोक इस विषय में प्रसिद्ध है, वह भी नीचे लिखा जाता है—

एकोऽभून्नलिनात् ततश्च पुलिनात् वल्मीकतश्चापरः।
ते सर्वे कवयस्त्रिलोकगुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्म्महे॥

'पहले विष्णु की नाभि से ब्रह्मा, दूसरे नदी के किनारे से व्यास और तीसरे वल्मीक से वाल्मीकि उत्पन्न हुए। ये सब कवि हैं और तीनों लोकों को शिक्षा देनेवाले गुरु हैं, इन्हें हमारा नमस्कार है।'

इसके अनुसार वाल्मीकि से व्यास पुराने हुए।

अब देखना चाहिए, हमारे आलोच्य कवि भवभूति इस विषय में क्या कहते हैं। उत्तर-चरित के दूसरे अंक में भवभूति लिखते हैं—

वनदेवता—आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः।

आत्रेयी—तेन खलु पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्म-प्रकाशकं ऋषिमुपगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत् 'ऋषिप्रबुद्धोसि वागात्मनि ब्रह्मणि। तद्ब्रूहि रामचरितमव्याहतज्योतिरार्षं ते प्रातिभं चक्षुः आद्यः कविरसि' इत्युक्त्वा तत्रैवान्तर्हितः। अथ भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्त्तमितिहासं रामायणं ऋषिः प्रणिनाय।

(उत्तर, २)

ऊपर के उद्धृत अंश में स्पष्ट ही लिखा है कि वाल्मीकि आदि-कवि और रामायण सर्वप्रथम लौकिक काव्य है। वाल्मीकि ने ही सब से पहले छंद की रचना की।*

वीर-चरित के प्रथम अंक में भी भवभूति ने वाल्मीकि को आदिकवि ही माना है। लिखा है—

* आत्रेयी। अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा मध्यन्दिन सवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्नः।

सूत्र०—प्राचेतसो मुनि वृषा प्रथमः कवीनां यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम् ।

मालती-माधव के पहले अंक में लिखा है कि देवरात का बेटा माधव आन्वीक्षिकी-विद्या को सुनने के लिये कुंडिनपुर से पद्मावती में आया था। फिर दूसरे अंक में लिखा है—'माधव ने अपने मित्र मकरंद के साथ पद्मावती-नगरी में आन्वीक्षिकी-विद्या को सीखा था।'

आन्वीक्षिकी-विद्या

अब देखना चाहिए कि आन्वीक्षिकी शब्द का अर्थ क्या है, और भवभूति के समय में इस विद्या का कैसा प्रचार था।

किसी-किसी का अनुमान है कि जैमिनी ऋषि ने वैदिक वाक्यों का समन्वय करने के लिये पूर्व-मीमांसा में जिन उक्तियों और नियमों का संग्रह किया है, उनका नाम न्याय है। आपस्तंब धर्म-सूत्र के दूसरे अध्याय में 'न्याय' शब्द का जो प्रयोग मिलता है, उसका अर्थ जैमिनि की पूर्व-मीमांसा है और न्यायवित् का अर्थ मीमांसक है। माधवाचार्य ने पूर्व-मीमांसा का जो सार संग्रह किया है, उसका नाम है न्याय-माला-विस्तार। इस तरह

तत्र युग्मचारिणोः क्रौञ्चयोरेकं व्याधेन वध्यमानं ददर्श आकस्मिकप्रत्यवभासां देव वाचमानुष्टुभेन छंदसा परिणतामभ्युदैरयत् ।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

बहुत मनुष्यों का मत है कि यही सब से पहला लौकिक श्लोक है, और मालूम होता है, भवभूति का भी यही मत था। वनदेवताओं ने इस श्लोक को लक्ष्य करके ही कहा था—"आश्चर्य! वैदिक छंदों के सिवा नए छंदों का अवतार भी देखा जाता है।

पुराने ग्रंथों के देखने से पता लगता है कि 'न्याय' शब्द जैमिनि की वैदिक मीमांसा का ही मतलब है। वेद के अर्थ को विशद करने के लिये जैमिनि ने जितने न्यायों का व्यवहार किया है, वे न्याय एक शृंखला में होकर जिस शास्त्र को बनाते हैं, उसी शास्त्र का नाम आन्वीक्षिकी-विद्या है। वास्तव में जैमिनि के उद्भावित तर्क ही आन्वीक्षिकी-विद्या के बीज हैं, इस न्याय-समूह को न्याय भी कहते थे। इसलिये आन्वीक्षिकी-विद्या का नाम न्याय-शास्त्र पड़ गया। शब्द का नित्यानित्यत्व, जीवात्मा का स्वरूप और मुक्ति आदि तत्त्वों को आन्वीक्षिकी-विद्या के अंतर्भुक्त करके गौतम ने जिस दार्शनिक मत को चलाया, कुछ समय बाद उसी का नाम न्याय-दर्शन पड़ा। 'आन्विक्षिकी' शब्द का प्रकृत अर्थ तर्क-विद्या और 'न्याय' शब्द का यथार्थ अर्थ वैदिक मीमांसा होने पर भी, मालूम होता है, भवभूति ने 'आन्वीक्षिकी' शब्द से गौतम के न्याय-दर्शन की ओर इशारा किया है।

भवभूति जिस समय प्रादुर्भूत हुए थे, उससे कुछ काल पहले से भारत में न्याय-शास्त्र की चर्चा चल पड़ी थी। अध्यापक कावेल साहब के मत में पक्षिल स्वामी या वात्स्यायन ने छठी शताब्दी के आरंभ में न्याय-सूत्र पर भाष्य रचा था। छठी शताब्दी के मध्य भाग में सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने न्याय-सूत्र पर एक और भाष्य लिखा था। इसके सिवा उन्होंने प्रमाण-समुच्चय आदि अनेक ग्रंथ लिखकर न्याय-शास्त्र को पुष्ट किया था। सभी जानते हैं कि छठी शताब्दी के अंतिम भाग में उद्योतकर ने न्याय-सूत्र पर वार्तिक लिखा था। न्याय-वार्तिक के आरंभ में उन्होंने लिखा है—

यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
कुतार्किकध्वान्तनिरासहेतोः करिष्यते तत्र मया निबन्धः ॥ (न्याय-वार्तिक)

'मुनिपुंगव अक्षपाद ने संसार में शांति-स्थापन के लिये जिस शास्त्र को बनाया था, कुतार्किकों के मोह को दूर करने के लिये मैं उसी शास्त्र पर वार्तिक बनाता हूँ।'

वासवदत्ता-ग्रंथ में सुबंधु ने लिखा है—"न्यायस्थिति-मिवोद्योतकर स्वरूपां"। न्याय-शास्त्र को स्थापित करने के लिये ही उद्योतकर ने जन्म लिया था। सातवीं शताब्दी के प्रारंभ में सुविख्यात ग्रंथकार धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के न्याय-भाष्य पर वार्तिक बनाया था। दिङ्नाग के वार्तिककार धर्मकीर्ति ने न्याय-वार्तिक, न्याय-विंदु, प्रमाण-वार्तिक, धर्म-संगीति आदि अनेक ग्रंथ बनाए थे। वासवदत्ता-प्रणेता सुबंधु ने धर्मकीर्ति के बौद्ध-संगीति-नामक ग्रंथ का उल्लेख किया है। कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, सुरेश्वराचार्य आदि मीमांसकों ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के मत को उद्धृत किया है और उनका खंडन भी किया है। जिस समय हिंदू और बौद्ध संप्रदायों में इस तरह न्याय-चर्चा ज़ोरों पर थी, उस समय भवभूति ने जन्म लिया था। इसलिये माधव और मकरंद आन्वीक्षिकी-विद्या सीखने के लिये मालवा-प्रदेश की पद्मावती-नगरी में गए थे।

भवभूति-वर्णित प्राचीन स्थान

अंजन—वीर-चरित के सातवें अंक में सुग्रीव ने कैलास और अंजन पहाड़ों को पृथ्वी के दो स्तन बताए हैं। मालूम होता है, विष्णु-पुराण में इन्हें ही नील-पर्वत * कहा गया है। रामायण के किष्किंधाकांड

* नीलः श्वेतश्च शृंगी च उत्तरे वर्षपर्वताः। (विष्णु०—२, २, १०)

के ३७–३९ श्लोकों में अंजन-पर्वत का उल्लेख हुआ है।

ऋष्यमूक—वीर, ५। उत्तर, १। पंपा-सरोवर के निकट का पर्वत। रामायण के अरण्यकांड के ७३ अध्याय में भी इसका उल्लेख हुआ है। किष्किंधाकांड के पाँचवें अध्याय के देखने से मालूम होता है कि ऋष्यमूक और मलयगिरि पहाड़ एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं। *

कांचन—वीर, ७। कोई-कोई इसे सुमेरु का दूसरा नाम समझते हैं। रामायण में इसे ऋषभ-पर्वत लिखा है। †

कावेरी—वीर-चरित के सातवें अंक में लिखा है कि इस नदी के पास ही अगस्त्य का आश्रम था। रामायण के चौथे कांड के ४१ वें अध्याय में कावेरी का वर्णन मिलता है। दक्षिणा-पथ की यह एक प्रधान और पुण्य-तोया नदी है। यह कूर्ग-राज्य से निकलकर मदरास में होती हुई बंगाल की खाड़ी में जाकर गिरी है।

किष्किंधा—वीर, ५। कपिराज वालि का राज्य।

किसी-किसी के मत में वर्तमान बिलारी से उत्तर पर्वत-

---

* मदरास-प्रांत के त्रावंकोर-राज्य में अंबो नाम की एक नदी बहती है। जिस पर्वत से यह नदी निकली है, उसे कोई-कोई पश्चिम-घाट और देशी लोग अन-मलय कहते हैं। रामायण में कही गई पंपा-नदी यही है, यह बात आसानी से मानी जा सकती है। जिस पर्वत से यह निकली है, अर्थात् अनमलय से उसका पुराना नाम ऋष्यमूक और नया नाम हस्तिगिरि है।

(देखिए—प्राच्यविद्या-महार्णव बाबू नगेंद्रनाथ वसु का विश्वकोष 'ऋष्यमूक' शब्द)

† ततः काञ्चनमत्युग्रं ऋषभं नाम पर्वतम्।
कैलास शिखरश्चैव द्रक्ष्यसाद्भुतविक्रम ॥ (रामायण—६, ५३)

श्रेणियों में किष्किंधा-नगरी अवस्थित थी। वर्तमान महीशूर-राज्य किष्किंधा के अंतर्गत था। दक्षिण और मध्य-भारत के अनेक स्थान किष्किंधा कहला चुके हैं।

कुंजवान—वीर-चरित के पाँचवें और उत्तर-चरित के सातवें अंक से मालूम होता है कि यहाँ गर्दन-समेत बिना सिर के दनु-नामक दानव का राज्य था, वह जनस्थान के पश्चिमी दंडकारण्य का एक अंश था।

कैलास—वीर-चरित, ७। हिमालय से उत्तर तिब्बत-देश में अवस्थित।*

कौशिकी—वीर-चरित, १। वर्तमान कुशी-नदी। नेपाल-राज्य से निकलकर चंपानगरी के पास गंगा में मिली है।

गंधमादन—वीर-चरित के सातवें अंक में सुग्रीव ने कहा है कि गंधमादन-पर्वत कैलास और सुमेरु से भी दूर है। गंधमादन से परे और कोई स्थान है, इसका पता नहीं चल सकता। विष्णु-पुराण के मत में सुमेरु से दक्षिण ओर गंधमादन-पर्वत है। भास्कराचार्य ने सिद्धांत-शिरोमणि-ग्रंथ के गोलाध्याय में जो वृत्तांत लिखा है, उससे मालूम होता है कि गंधमादन कहीं मानसरोवर के पास है।

गोदावरी—उत्तर, २। सुप्रसिद्ध नदी गोदावरी पश्चिम-घाट से उत्पन्न होकर पूर्व-घाट में होती हुई बंगाल की खाड़ी में मिल गई है।

---

* The Kailas mountain believed to be the abode of Siva, the tutelary god of the snowy range of Central A a, and of the wealth-god Kuvera, was to the north of

चित्रकूट--वीर, ४; उत्तर, १। आजकल इसे 'आमता' और 'चितरकोट' कहते हैं। यह बाँदा-ज़िले में है। कोई-कोई भागीरथी के किनारेवाले पहाड़ को चित्रकूट मानते हैं, और कोई-कोई उसे बुंदेलखंड में मानते हैं। * इससे दस कोस की दूरी पर भरद्वाज का आश्रम था।†

जनस्थान—वीर, ४; उत्तर, १, २। खर-नामक राक्षस का निवास-स्थान। दंडकारण्य के पूर्व में जनस्थान है। जिस समय रावण सीता को हरकर ले जा रहा था, उस समय जटायु ने रावण से यहीं युद्ध किया था।

(रामायण–४, ६८, २१ देखिए ‡)

---

the Himalayas. It would appear to correspond with the Kiunlun range, which extends northwards and connects with the Altai Chain.

(B. Nabin Chandra Das's Ancient Geography of Asia, P. 66.)

* श्रीयुत आनंदराम बरुआ महोदय का मत।

† दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन् निवत्स्यसि।
महर्षि सेवितः पुण्यः पर्वत शुभदर्शनः॥
गोलाङ्गलानुचरितो वानरर्क्षनिषेवितः।
चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः॥

(रामायण, अयोध्याकांड, अध्याय ५४)

‡ श्रीयुत शरच्चंद्र शास्त्री के बनाए 'दक्षिणापथ-भ्रमण' के दसवें पृष्ठ पर लिखा है—

"वाल्मीकि-रामायण के दंडकारण्य में एक अंश का नाम नागपुर है। यहाँ से नासिक तक के उत्तर-दक्षिण-व्यापी विस्तृत भू-भाग का नाम दंडकारण्य और

तमसा—उत्तर, २। राम ने अयोध्या को छोड़कर लक्ष्मण और सीता के साथ तमसा-नदी के किनारे रात काटी थी। वर्त्तमान समय में इस नदी का नाम टोंस है। यह नदी आज़मगढ़ होती हुई बलिया-ज़िले में जाकर गंगा से मिली है। *

दंडकारण्य—वीर, ४, उत्तर, १। गोदावरी के उत्तर और विंध्य-पर्वत के दक्षिण में अवस्थित है। †

नंदीग्राम—वीर, ४; अयोध्या के पूर्व में अवस्थित है।

पंचवटी—वीर, ५। उत्तर, १,२। गोदावरी के किनारे और जन-स्थान के अंदर अवस्थित है। इसका वर्त्तमान नाम नासिक है। ‡

पंपा—वीर, ५,७; उत्तर, १। ऋष्यमूक-पर्वत के पास तालाब है। रघुवंश के तेरहवें सर्ग के तीसवें श्लोक में पंपा का उल्लेख हुआ है।

जनस्थान था। नागपुर के ब्राह्मण अब भी संकल्प पढ़ते समय 'दंडकारण्यान्तर्गत देशे' उच्चारण करते हैं।"

"Janasthan was the tract which forms a part of Central Bombay Division including Nasika (wherein was Panchvati), Poona, Satara and Konkan and also Aurangabad, in which are the caves of Ellora, the City of Mual, who was conquered by Agastya'" (Ancient Geography of Asia, P. 50.)

* युक्त-प्रांत के गढ़वाल-राज्य और देहरादून जिले में बहनेवाली एक नदी। (विश्वकोश, 'तमज्ञा' शब्द)

† ग्रिफ़िथ साहब के मत में दाक्षिणात्य का उत्तरांश दंडकारण्य कहलाता है।

‡ Panchvati—a place in great southern forest near the sources of the Godāveri, believed to be the modern Nasik, so-called from the incident that Supnakha's nose (nasika)

प्रस्रवण—वीर, ५; उत्तर, १,२। गोदावरी के पास और जनस्थान के बीच में अवस्थित पर्वत है। पूर्वीय घाट राजमंद्र के पास।

मलयाचल—वीर, ५। कावेरी-नदी के किनारे का नील-गिरि पहाड़।

मातंगाश्रम—वीर, ५; उत्तर, १। ऋष्यमूक-पर्वत पर अवस्थित है। रामायण के अनुसार जाना जाता है कि यह पंपा-सरोवर के पश्चिम किनारे पर विद्यमान था।

महेंद्र-द्वीप—वीर, २। भारतवर्ष का अंश-विशेष। विष्णु-पुराण (२–३६) देखिए। रघुवंश (४–३८) से मालूम होता है कि कलिंग-प्रदेश और महेंद्र-द्वीप दोनों एक ही हैं। आधुनिक विजयपत्तन के पूर्वी घाट के उत्तर की ओर महेंद्र-पर्वत है। महाभारत में लिखा है कि परशुराम ने काश्यप को समग्र पृथ्वी दक्षिणा के रूप में भेंट की थी। बाद को समुद्र से महेंद्र-पर्वत लेकर उन्होंने उस पर तपस्या आरंभ की।

माल्यवान—उत्तर, १। प्रस्रवण पहाड़ के पास ही माल्यवान पहाड़ है। रामायण (४–७७) और रघुवंश (१३–२६) देखिए।

---

was cut off by Lakshman there.—(Dowson's Hindu Mythology.)

The town of Nasik is 6 miles from Nasik-Road station in the G. I. P. Railway, and its ghat extends for nearly half a mile on the Godaveri, whose sources are at Trayambaka Nath (Trimebek) 20 miles higher up. Here is a temple of Raghunath at Panchvati—(Padmanabha Ghosal's Indian Travels)

मुरला—उत्तर, ३। इस समय नासिक की दक्षिण ओर मूला नाम की जो नदी बहती है और गोदावरी में गिरती है, मालूम होता है, भवभूति की 'मुरला' वही है।

वाल्मीकि-आश्रम—युक्त-प्रदेश में कानपुर-फर्रुखाबाद को जो रेलवे-लाइन जाती है, उस पर बिठूर नाम का स्टेशन है। कानपुर के दक्षिण-पश्चिम में गंगा-तट पर यह बसा हुआ है। वही वाल्मीकि का आश्रम था।

शृंगवेरपुर—वीर, ४; उत्तर, १। निषादराज गुह का स्थान। गंगा के पास बसा हुआ था। वर्त्तमान मिर्ज़ापुर के पास का स्थान। *

श्यामवट—उत्तर, १। यमुना के किनारे, भरद्वाज के आश्रम और चित्रकूट-पर्वत के बीच में अवस्थित। रामायण (२–५५) और रघुवंश (१३) देखिए। मालूम होता है, इसीका नाम अब 'अक्षयवट' है।

सांकास्य—वीर, १। रामायण की आख्यायिका से मालूम होता है कि सुधन्वा को मारकर जनक ने अपने भाई कुशध्वज को आज्ञा दी कि वह इक्षुमती-नदी के किनारे सांकास्य-नगर बसाए। जनरल कनिंगहम के मत में कनौज से ३३ मील की दूरी पर दक्षिण-पूर्व में जो संकिस-नगर है, वही भवभूति के समय में, और उससे पहले भी, सांकास्य कहलाता था। चीनी परिव्राजक ह्वेन साँग ने इसके 'सेंकियासि' और 'क्यापि (कपिथ)' दो नाम लिखे हैं।

---

*Sringverapur is the modern Sungicor in Allahabad district.

सिद्धाश्रम—वीर, १। विश्वामित्र का आश्रम। यह प्रयाग के पास भोजकूट-नगर में है, और कौशिकी-नदी द्वारा घिरा हुआ है। 'कौशिकी' गंगा की एक शाखा-नदी है। यह मगध में बहती है।

राम, सीता और लक्ष्मण अयोध्या से सरयू के किनारे पर आए थे। बाद को सरयू पार करके वे दक्षिण की ओर गए थे। गंगा पार करके वे निषादराज गुह से उसकी राजधानी शृंगवेरपुर में मिले थे। गुह की राजधानी का वर्त्तमान नाम चंडालगढ़ या चुनारगढ़ है। मुसलमान-बादशाहों के समय में यहाँ पर एक दुर्ग बनाया गया था। अब अंगरेज़ों ने उस दुर्ग की मरम्मत करा दी है, और उसमें अंगरेज़ी सेना रहती है। ई० आई० आर० का यहाँ पर चुनारगढ़ नाम का स्टेशन है। यह स्थान मुग़लसराय और विंध्याचल-नामक स्टेशनों के बीच (मिर्ज़ापुर-ज़िले) में है। यहाँ से गुहराज की नौका पर चढ़कर वे गंगा के दक्षिण किनारे पर उतरे थे। वहाँ किसी बड़ के पेड़ के नीचे रात काटकर दक्षिण-पश्चिम की ओर आगे बढ़े थे। बहुत दूर आगे बढ़कर वे गंगा-यमुना के संगम पर पहुँचे थे। इसीका नाम प्रयाग-क्षेत्र है। यहीं पर भरद्वाज-ऋषि का आश्रम था। एक रात उनके आश्रम में रहकर ऋषि के परामर्शानुसार यमुना के किनारे-किनारे वन में चले गए थे, और फिर यमुना-तट पर पहुँचे थे। लक्ष्मण के बनाए डोंगे पर सवार होकर वे यमुना के दक्षिण-तट पर उतरे थे। फिर वे श्यामवट पर पहुँचे, तदनंतर यमुना के किनारे के वनों में

राम, लक्ष्मण और सीता के वन जाने का मार्ग

होते हुए चित्रकूट पहुँचे, और वहाँ पर्ण-कुटी बनाकर कुछ समय तक रहे थे। यहीं पर अयोध्या से आकर भरत ने उनसे भेंट की थी। फिर पश्चिम की ओर चलकर वे वाल्मीकि के आश्रम में पहुँचे थे। इस स्थान का वर्त्तमान नाम बिठूर है। वहाँ से अत्रि-मुनि के आश्रम में कुछ दिन रहकर वे दंडकारण्य में पहुँचे और वहाँ विराध नाम के राक्षस को मारा। जबलपुर के पास ही विस्तृत भूमि दंडकारण्य है। फिर दंडकारण्य से मिले हुए जनस्थान में पहुँचे। जनस्थान में बहुत-से तपस्वियों और ऋषियों के आश्रम थे। गोदावरी के पास पंचवटी में फिर वे कुछ समय तक कुटी बनाकर रहे थे। बंबई-नागपुर रेलवे-लाइन पर नासिक-स्टेशन के पास यह स्थान (पंचवटी) है। यहाँ पर नासिक नाम का एक छोटा-सा शहर है। यहीं पर सीता-हरण हुआ था। फिर वे जनस्थान से तीन कोस पर क्रौंचारण्य में गए। यहीं पर अयोमुखी-राक्षसी उन्हें मिली थी। फिर वे चित्रकुंज-पर्वत पर गए, और कबंध नाम के राक्षस को मारकर, वहाँ से पश्चिम की ओर चलकर, वे पंपा-सरोवर के तीर पर पहुँचे। इसके पासवाले ऋष्यमूकपर्वत पर हनूमान और सुग्रीव आदि से उनकी भेंट हुई। पंपा के पश्चिमी तट पर मातंगाश्रम था। यहीं पर सिद्ध शवरी से उनकी भेंट हुई। सुग्रीव से मित्रता करके वे ऋष्यमूक से किष्किंधा चले आए। वर्षा-काल में किष्किंधा के पास प्रस्रवण-पर्वत पर चले गए। पास ही माल्यवान-पर्वत था। दक्षिण की बहुत-सी नदियों, प्रदेशों और अरण्यों को पार करके सुग्रीव और वानरी सेना के साथ वे लंका में पहुँचे थे।

भवभूति के काव्य में जो अनेक भाव मिलते हैं, वैसे ही

भाव उनसे पहले और पिछले कवियों के काव्यों में भी दिखाई पड़ते हैं। नीचे कुछ अनुरूप कविताएँ लिखी जाती हैं—

अनुरूप कविता

भवभूति	कालिदास
(१) स्नेहं दया तथा सौख्यं यदि वा जानकीमपि । आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥ (उत्तर, १)	(१) निश्चित्य चानन्यनिवृत्तिवाच्यं त्यागेन पत्न्या परिमार्ष्टुमैच्छत् । अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थात् यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ (रघुवंश, १४,३५)
(२) गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः । (उत्तर, ४)	(२) गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते । (रघुवंश, ३)
(३) कलाशेषो मूर्त्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी । (मालती, २)	(३) पर्याय पीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः । (रघुवंश, ५)
(४) सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि । दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते ॥ (उत्तर, ४)	(४) तमवेक्ष्य रुरोद सा भृशं स्तनसंबाधमुरो जघान च । स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते ॥ (कुमार०, ४,२६)
(५) यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी । (उत्तर, ५)	(५) अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे दृष्टिं न नंदयति संस्मरणीय शोभा । (शकुन्तला, ४)
(६) कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव । (मालती, १)	(६) कुवलयितगवाक्षां लोचनै- रङ्गनानाम् । (रघु०, ११)

(७) सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतनं वा । (मालती, १)

(७) एकस्थ सौन्दर्य्यं दिदृक्षयेव । (कुमार, १)

(८) तस्याः सखे नियतमिन्दु सुधा-मृणाल ज्योत्स्नादिकारणमभू-न्मदनश्च वेधाः । (मालती, १)

(८) अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभू-च्चन्द्रानुकान्तिप्रदः, श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदने मासो नु पुष्पा-करः । वेदाभ्यास जडः कथ नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो, निर्म्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः । (विक्रमोर्वशी)

(९) दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्य-माहितम् । मर्म्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं स्थिरैः । (उत्तर, १)

(९) अथ मोहपरायणा सती विवशा कामवधूर्विबोधिताः । विधिनाः प्रपितादयिष्यता नववैधव्यमसह्य वेदनम् । (कुमार०, ४)

भवभूति

(१) शरीरनिर्माणसदृशो ननु अस्य अनुभावः । (वीर, १)

शूद्रक

(१) नह्याकृतिः सुसदृशं विजहाति वृत्तम् । (मृच्छकटिक, ९)

भवभूति

(१) वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमान्यपि । लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥ (उत्तर, १)

* क्षेमेंद्र—

(१) कुसुमात् सुकुमारस्य क्रूरस्य क्रक-चादपि । को जानाति परिच्छेदं स्त्रीणां चित्तस्य चेतसः ॥ (अवदान-कल्पलता, ८,६८)

---

* काश्मीर के सुप्रसिद्ध बौद्ध कवि क्षेमेंद्र ने अवदान कल्पलता नाम के जिस सुवृहत् काव्य की रचना की है, उसका १२०२ ई० में तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था ।

(२) भिद्येत वा सद्वृत्तमीदृशस्य निर्माणस्य। (उत्तर, ४)

(२) स्मरणं श्रवणं वापि दर्शनं वा महात्मनाम्। श्रेयं कुशलवल्लीनां महती फलसन्ततिः। (अवदान०, १०,११)

(३) सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति। अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुखान्यपोहति। तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः। (उत्तर, ६)

(३) सत्ता सदसदो नास्ति रागः पश्यति रम्यताम्। स तस्य ललितो लोके यो यस्य दयितो जनः। (अवदान०, १०,९९)

(४) राजापचारमन्तरेण प्रजासु अकालमृत्युर्न चरति। (उत्तर, २)

(४) लोकः सुखानि किल पुण्यफलानि भुंक्ते हंतो न चेत् कुनृपतेर्विनिपातवातैः। (अवदान०, ९,७)

बाल-रामायण और अनर्घ-राघव आदि काव्य-ग्रंथों में अनेक श्लोक भवभूति के वीर-चरित और उत्तर-चरित के भावों का अवलंबन करके लिखे गए हैं। अधिक संख्या में होने के कारण उनको यहाँ उद्धृत नहीं किया गया है।

वाल्मीकि-रामायण के पहले छः कांडों से वीर-चरित की घटनाएँ संग्रह की गई हैं। रामायण के उत्तर-कांड और पद्म-पुराण के पाताल-खंड से मसाला लेकर उत्तर-चरित बनाया गया है। भवभूति ने अपने समय की किसी घटना का अवलंबन करके मालती-माधव को बनाया था।

भवभूति के उपजीव्य ग्रंथ

रामायण के आदि-कांड की १५ वर्षों की घटनाओं को वीर-चरित के पहले अंक में एक दिन में ही घटा देने से भवभूति को कई जगह मूल इतिहास में कुछेक परिवर्त्तन करना पड़ा है—

विदेह राजा का निमंत्रण और उनके भाई का विश्वामित्र के यज्ञ में आना रामायण में नहीं लिखा है। सभा में सीता और राम का समागम तथा परस्पर प्रीति के सूत्र में बँधना आदि बातें भवभूति की अपनी हैं। रावण के दूत का आगमन लिखकर भवभूति ने नाटक में घटना-वैचित्र्य पैदा किया है। तीसरे अंक की घटनाएँ कवि की उद्धावित हैं। रामायण के अयोध्या-कांड की घटनाएँ वीर-चरित के चौथे अंक में अति संक्षिप्त रूप में वर्णित हुई हैं।

रामायण में लिखा है कि कैकेयी ने मंथरा के परामर्श से अपने ही स्थान पर दशरथ से वर माँगा था। किंतु भवभूति ने कैकेयी के दोष को धोने के लिये लिखा है कि सुपनखा ही मंथरा के वेश में दशरथ के पास गई थी और एक पत्र देकर उसीने उनसे वर माँगे थे।

रामायण में लिखा है कि राम को वनवास की आज्ञा अयोध्या में मिली थी; किंतु भवभूति ने यह घटना मिथिला में घटाई है।

रामायण में लिखा है कि राम के वन-गमन के समय भरत ननिहाल में थे, पिता की मृत्यु का हाल मालूम होने पर वह वहाँ से अयोध्या आए थे, और फिर चित्रकूट जाकर राम की पादुका लाए थे। किंतु भवभूति के वर्णन से मालूम होता है कि राम के वन-गमन से पहले ही भरत अयोध्या में आ गए थे, और वहीं उन्होंने पादुकाओं को प्राप्त किया था।

भवभूति ने वीर-चरित के पाँचवें अंक में लिखा है कि सुग्रीव के साथ वाली की मित्रता थी और माल्यवान के कहने पर ही राम ने वाली से शत्रुता की थी।

छठे अंक में भवभूति ने लिखा है कि राम ने खर-दूषण की सेना को भस्म कर दिया था, पर इस घटना का पता रामायण में नहीं है।

मेघनाद की मृत्यु का भी भवभूति ने एक नए ही ढंग से वर्णन किया है।

उत्तर-चरित के प्रथम अंक की प्रधान-प्रधान घटनाएँ रामायण के उत्तर-कांड से ली गई हैं। किंतु भवभूति ने उन घटनाओं को नया रूप दे दिया है। दूसरे अंक में आत्रेयी का जो उपाख्यान है, वह भवभूति का अपना है।

पाँचवें अंक में भवभूति ने अश्वमेध के घोड़े का वर्णन किया है। यह घटना रामायण में लिखी है, पर वहाँ घोड़े की रक्षा का भार लक्ष्मण पर था। लक्ष्मण के पुत्र का सेनाध्यक्ष होना और लव के साथ लड़ना, रामायण में कहीं नहीं लिखा है।

सातवें अंक में सीता के साथ राम का पुनर्मिलन लिखा है, जो रामायण के विरुद्ध है। रामायण के मत में सीता सबके सामने पाताल में चली गईं थीं।

अब यहाँ भवभूति के तीनों नाटकों के किस-किस अंश के साथ अन्य कवियों के ग्रंथों के किस-किस अंश का सादृश्य है, इस तरह के कुछ स्थल नीचे लिखे जाते हैं—

वीर-चरित, सतवाँ अंक, शेष दृश्य

यह रामायण के लंका-कांड के अंतिम आठ अध्यायों से संग्रह किया गया है। किंतु वहाँ आकाश-मार्ग से जाने का हाल नहीं लिखा है। कालिदास ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग में आकाश-

मार्ग से जाने की बात लिखी है ❀। भट्टिकाव्य के बाईसवें सर्ग (२४–२८) के साथ भी भवभूति का सादृश्य है।

उत्तर-चरित, पाँचवाँ अंक

इस जगह भवभूति ने चंद्रकेतु के विषय में जो कुछ लिखा है वह पद्मपुराण के पाताल-खंड से लिया गया है।

छठा अंक

आग्नेय और वारुण आदि अस्त्रों का प्रयोग और संप्रहार किरातार्जुनीय काव्य के सोलहवें सर्ग से मिलता है।

मालती-माधव, दूसरा अंक

वासवदत्ता का उपाख्यान बृहत्कथा से लिया गया है।

तीसरा अंक

मालती-माधव का व्याघ्र-युद्ध मृच्छकटिक के दूसरे अंक में वर्णित हस्ति-विद्रावण के अनुरूप है। इसी व्याघ्र-युद्ध ने मालती से माधव का, और मदयंतिका से मकरंद का, विवाह कराने में प्रकारांतर से सहायता दी है।

पाँचवाँ अंक

कन्या-रत्न, उपहार-प्रदान और वध दश-कुमार की सातवीं आख्यायिका से मिलते हैं।

आठवाँ अंक

मालती और माधव का समागम अभिज्ञान-शाकुंतल के तीसरे अंक में वर्णित दुष्यंत और शकुंतला के समागम के अनुरूप है।

❀ क्वचित्पथा संचरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्त्तते पश्य तथा विमानम् ॥—(रघु०, १३)

नवाँ अंक

विक्रमोर्वशी के चौथे अंक के अनुरूप है।

वीर-चरित, उत्तर-चरित और मालती-माधव, ये तीनों ग्रंथ एक ही लेखनी के फल हैं, इसमें किसी को संदेह नहीं है।

तीनों नाटकों में कौन पहला और अपेक्षाकृत अच्छा है

बहुत-से श्लोक तीनों नाटकों में एक-से मिलते हैं और कुछ श्लोक दो नाटकों में एक-से ही स्थल पर उद्धृत हुए हैं। विचार करने से मालूम होता है कि वीर-चरित ही सबसे पहले बना है, फिर मालती-माधव और उत्तर-चरित की रचना हुई है। उत्कर्ष की दृष्टि से उत्तर-चरित ही सबसे प्रथम है। पर स्वयं भवभूति मालती-माधव को सर्व-श्रेष्ठ मानते हैं। मालती-माधव में घटना-संबंधी विलक्षणता अवश्य अधिक है। उत्तर-चरित में घटना-संबंधी विचित्रता नहीं है। उसकी घटना अत्यंत साधारण है। पर इससे क्या, उसका विषय मनोहर, भाषा मधुर और भाव उन्नत है।

भवभूति ने वीर-चरित के संबंध में लिखा है—

महापुरुषसंरम्भो यत्र गम्भीरभीषणः।
प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती॥
अप्राकृतेषु पात्रेषु यत्र वीरः स्थितो रसः।
भेदैः सूक्ष्मैरभिव्यक्तैः प्रत्याधारं विभज्यते॥

(वीर, १)

'वीर-चरित नाटक में महापुरुषों के गंभीर और भीषण कार्य लिखे गए हैं। इसमें जो वाक्य प्रयुक्त हुए हैं, वे प्रसाद-गुण-पूर्ण हैं, कहीं-कहीं कर्कश भी हैं; पर सब जगह अर्थ-पूर्ण

हैं। इसमें महापुरुषों के चरित्र में वीर-रस का सूक्ष्म भेद दिखाया गया है।'

मालती-माधव के संबंध में भवभूति ने लिखा है—"विशाल विश्व में जितने असाधारण बुद्धिमान् मनुष्य मौजूद हैं, या होंगे, केवल वे ही मालती-माधव के यथार्थ भाव को समझ सकेंगे।"

उन्होंने और भी लिखा है—

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद्गुणो नाटके॥
यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतोगौरवम्।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

(मालती, १)

'वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग आदि को अध्ययन करके जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है, उस ज्ञान को नाटकों में दिखाने का विशेष अवसर नहीं मिलता है। वाक्य में प्रौढ़त्व और औदार्य तथा अर्थ में यदि गुरुत्व मौजूद हो, तो पांडित्य और चतुराई का सबूत मिल जाता है।'

उत्तर-चरित में लिखा है—

यं ब्रह्माणमियं देवी वागवश्येवानुवर्त्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयुज्यते॥

'जिस ब्राह्मण भवभूति के सरस्वती साधारण स्त्री की तरह वश में है, उसीका बनाया उत्तर-रामचरित आज अभिनीत होता है।'

संस्कृत-साहित्य में भयानक-रस का वर्णन अति विरल है। किन्तु भवभूति ने मालती-माधव के पाँचवें अंक में पद्मावती-

नगरी के श्मशान का वर्णन करते हुए इस रस का जैसा समावेश किया है, मालूम होता है, संसार के किसी कवि ने अबतक वैसा वर्णन नहीं किया। इस श्मशान-वर्णन के कुछ अंश नीचे लिखे जाते हैं—

"माधव—हाय, प्रेतों के इधर-उधर घूमने से श्मशान-भूमि कैसी भीषण मालूम होती है।

भवभूति का श्मशान-वर्णन

"श्मशान के बीच में चिता की अग्नि का उजाला अंधकार को भीषण और घना कर रहा है। कटपूतनाएँ इधर-उधर कैसी खुश-खुश घूम रही हैं, और उनके किलकिल शब्द से श्मशान की भयानकता और बढ़ रही है।

"कुछ हो, मैं चिल्लाता हूँ। हे श्मशान में रहनेवाली कटपूतनाओ, शस्त्राघात से नहीं, वैसे ही इस पुरुष का महामांस बिक रहा है, आप लोग उसे लीजिए।

(नेपथ्य से किलकिल की आवाज़ आती है)

"माधव—कैसी भयानक जगह है। मुँह से बात निकालते-निकालते भूत लोग श्मशानों में आ डटे। उनके आने से सारा श्मशान भर गया। हड्डियों की खड़खड़ाहट और बैतालों की लड़ाई की अव्यक्त ध्वनि से श्मशान पूरित हो गया!

आश्चर्य!

"जिनके बड़े-बडे ओठों के खुलने से श्मशान की अग्नि जल रही है, जिनके दुर्बल लंबे शरीर का कुछ अंश तो दिखाई देता है, पर अधिक अंश अदृश्य है, जिनके बाल, आँख, भौवें और मूँछें बिजली की तरह चमक रही हैं, बाहर को निकले हुए

दाँत जिन्हें और भयानक बना रहे हैं, ऐसे इधर-उधर घूमनेवाले उल्कामुखों के मुखों से आकाश मानो भर गया है।

अपि च

"रात में विहार करनेवाले प्रेतों के मुँह से जो नर-मांस गिर पड़ता है, उससे मांस के न मिलने के कारण रोनेवाले जंगली कुत्ते प्रसन्न हो रहे हैं। खजूर के पेड़ की तरह लंबी जाँघोंवाले, काली त्वचावाले और मज़बूत हाड़वाले प्रेत जीर्ण कंकालों के समान दिखाई पड़ते हैं।

(चारों ओर देखकर और हँसकर)

"अहो, पिशाचों की कैसी भीषणता है !

"बुरे वर्ण और स्थूल देहवाले पिशाच उस पुराने वृक्ष के समान मालूम होते हैं, जिसकी जड़ में अनेक चंचल अजगर बैठे हों।"

(कुछ आगे बढ़कर)

"अहो, सामने कैसी भीषण घटना हो रही है !

"इधर-उधर झटपट दौड़नेवाले, जिनकी आँखें और दाँत बाहर को निकले हुए हैं—ऐसे प्रेत हड्डियाँ निकाल-निकालकर जंघा आदि का दुर्गंध-पूर्ण मांस खा रहे हैं। यही नहीं, वे खोपड़ियों को उठाकर गोद में रखकर उसमें से भी मांस निकाल-कर बड़े मज़े से खा रहे हैं।

अपि च

"अग्नि के संयोग से जिन शव-देहों से खून और चर्बी बह रही है, प्रेत उन्हें चिता में से निकालकर और जंघा आदि स्थानों के मांस को फाड़कर चर्बी को पी रहे हैं।

(कुछ हँसकर)

"अहो, पिशाच-रमणियाँ भी यहाँ किस मौज से सांध्य-सम्मिलन कर रही हैं। प्रत्येक पिशाच-स्त्री अपने पति के साथ मिलकर मुर्दों के शरीरों में से आँतें निकालकर कंगन, हाथ की उँगलियों से कर्णफूल, हृत्पद्मों की माला, और खून की कीच से बेल-बूटे बनाकर अपने शरीर की शोभा बढ़ा रही हैं। यही नहीं, खोपड़ियों के पात्र में मज्जा-रूप मद्य पान कर रही हैं।

(कुछ आगे बढ़कर और 'शस्त्राघात-शून्य' आदि को फिर कहकर)

"यह क्या! अति प्रशांत और भीषण विभीषिका को दिखाकर पिशाच लोग कहाँ चले गए? मालूम होता है कि पिशाचों की यथार्थ सत्ता कुछ नहीं है।

(कुछ और आगे बढ़कर और सब कुछ देखकर वैराग्य दिखाता है)

"हाय! श्मशान-भूमि सब ओर से घिरी हुई है। सामने ही नदी बह रही है। पास ही उल्लुओं और रोते हुए गीदड़ों की आवाज़ से नदी का तट परिपूरित और भीषण हो रहा है। नदी में इतनी खोपड़ियाँ पड़ी हुई हैं कि तैरनेवालों का मार्ग उनसे रुक गया है। जो कोई उनको हटाकर तैरता है, तो बड़ा ही भयानक घर्घर शब्द होता है।"

प्रौढ़ वाक्य और उन्नत भाव लिखने में भवभूति अद्वितीय हैं। संस्कृत-भाषा के ऊपर जिनका पूर्ण अधिकार था, उनमें से भी किसी के भाग्य में यह बात न थी। जहाँ जिस शब्द की आवश्यकता होती थी, वहाँ वही शब्द वह रखते थे। इस कौशल के कारण उनके शब्द आश्चर्य-पूर्ण शक्ति से युक्त होकर उनके काव्य

भवभूति का काव्य-रचना-कौशल

के गौरव को बढ़ा रहे हैं। जो बात कही है, उसमें नाम को शिथिलता नहीं आई है। स्थान-स्थान पर नए भावों के अभ्युदय से उनके काव्य-प्रवाह की गति बदली ज़रूर है; किंतु उस तरह के परिवर्त्तन से उनके काव्य में असाधारण शक्ति आ गई है।

वीर-चरित के चौथे अंक में विश्वामित्र कहते हैं—

रघुजनकगृहेषु गर्भरूपव्यतिकरमङ्गलवृद्धयोऽनुभूताः।
भृगुपतिदमन इत्यर्द्धोक्ते विरम्य—
भृगुपतिविदितोन्नतिं च वत्सं प्रियमभिनन्द्यसुखी गृहानुपेयाम्॥

'हमने रघुनंदन और जानकी का विवाह देखा। अब परशुराम को जिन्होंने दमन किया है, (रुककर) भृगुपति परशुराम को विदित है उन्नति जिनकी, ऐसे रामचंद्र को देखकर हम घर जायँगे।'

यहाँ 'भृगुपति-दमन' विशेषण का उच्चारण करके उन्होंने सोचा कि इससे परशुराम नाराज़ होंगे। यह सोचकर उन्होंने तत्काल दूसरा विशेषण 'भृगुपतिविदितोन्नति' का प्रयोग कर दिया। बात यह थी कि विश्वामित्र रामचंद्र को परशुराम के सामने 'भृगुपति-दमन' या 'भार्गव-विजयी' कहना चाहते थे, पर उसी समय 'भृगुपतिविदितोन्नति'—अर्थात् 'परशुराम को जिनका माहात्म्य मालूम है', यह विशेषण कहकर परशुराम के क्रोध का उन्होंने निवारण कर दिया। क्षण-भर में 'भृगुपति-दमन' के बजाय 'भृगुपतिविदितोन्नति' विशेषण बिठाकर कवि ने अनन्य-साधारण वाक्-शक्ति और विलक्षण विचार-कौशल दिखाया है। तारीफ़ यह कि कविता में छंदोभंग दोष छू तक नहीं गया।

वीर-चरित के छठे अंक में माल्यवान् रावण की क्षमता का वर्णन करते हुए कहता है—

दुर्गोऽयं चित्रकूटस्तदुपरि नगरं सप्तधातुप्रकार-
प्राकारं दुस्तरैषा निरवधिपरिखाप्यद्रिरभ्रंकषोर्मिः ।
दोर्दण्डा एव दृप्यद्रिपुदलन महासत्रदीक्षाः प्रतीक्ष्या
रक्षो नाथस्य (वामाक्षिस्पन्दनं सूचयन् सव्यथम्)
किं नो विधिरिह वचनेऽप्यक्षमो दुर्विपाकः ॥

(वीर-चरित, ६)

'पहले तो चित्रकूट दुर्गम है, फिर इस पहाड़ के ऊपर सप्त धातुओं का बना नगर है। आकाश छूनेवाली तरंग-मालाओं-वाला समुद्र उसे घेरे हुए है। नगर की प्राचीर भी बड़ी दुस्तर है। इन सब का क्या प्रयोजन है। राक्षस-नाथ रावण की पवित्र भुजाएँ रिपु-नाश-रूप यज्ञ में दीक्षित हो चुकी हैं। (बाँई आँख के फड़कने से उसे बड़ा दुःख हुआ, फिर उसने कहा) इन सब श्लाघा-पूर्ण वाक्यों के न सुनने की विधि से हमारा क्या दुष्परि-णाम होगा, कहा नहीं जा सकता।'

यहाँ पर लंका-नगरी की निरापद अवस्था और रावण के असामान्य भुज-बल का वर्णन करते-करते अकस्मात् भाव का परिवर्त्तन हो गया। श्लोक के पहले तीन चरणों में जो भाव प्रकाशित हुआ था, चौथे चरण में अकस्मात् उसके विरुद्ध भाव प्रकट हुआ है जरूर; पर इससे श्लोक के ज़ोर और सामर्थ्य की कुछ भी हानि नहीं हुई। इस तरह इच्छानुसार श्लोक की गति को पलटकर कवि ने असामान्य रचना-नैपुण्य का परिचय दिया है।

उत्तर-चरित के तीसरे अंक में वासंती कहती है—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्के ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां तामेव शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥

'तू मेरा जीवन है, तू मेरा दूसरा हृदय है, तू मेरी आँख की रोशनी है (उत्तर, ३) और अंक का अमृत है। इस तरह अनेक चाटु-वाक्यों से प्रसन्न करके अंतःसरलहृदया सीता को अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।'

रामचंद्र सीता से कितना प्रेम करते हैं, वासंती ने पहले इसी विषय का सविस्तर वर्णन किया है। अंत में उसी सरल-हृदया सीता को रामचंद्र ने वन में छोड़ दिया, यह बात उससे न कही गई, और उसे मोह हो आया। जिससे बढ़कर रामचंद्र का और कोई प्यारा न था, उसी सीता को रामचंद्र ने छोड़ दिया, यह बात पढ़ते हुए पाठकों के मन में जितना आक्षेप होता है, उससे भी अधिक आक्षेप इस वाक्य को न कहलाकर कवि ने उत्पन्न किया है। भवभूति के इस तरह के असाधारण रचना-कौशल को देखकर मालूम होता है कि उन्हें वृथा गर्व न था, सचमुच वाग्देवी (सरस्वती) वशगा कामिनी की तरह उनके साथ रहती थी *।

दृश्य काव्य के रचने में जिन विषयों की ओर लक्ष्य रखना चाहिए, भवभूति के नाटकों में उन विषयों की ओर पूरी तरह से लक्ष्य रक्खा गया है। उनके नाटक लिखने के कौशल को देखकर यह कहना पड़ता है कि नाटक बनानेवालों में उनका आसन सब से ऊँचा है। उत्तर-चरित के दूसरे अंक के प्रारंभ में वन-देवता नेपथ्य से कह रहे हैं—"स्वागतं तपोधनायाः" तापसी का

* यं ब्रह्माणमियं देवी वागवश्येवानुवर्त्तते।
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयुज्यते॥ (उत्तर-चरित, १)

स्वागत है। वन-देवताओं के इस वाक्य से अध्वग-वेशा तापसी आत्रेयी का आगमन सूचित हुआ है। रंगभूमि में प्रवेश करने से पहले ही यदि कोई व्यक्ति यवनिका के पीछे से किसी विषय की सूचना देता है, तो उस सूचन-क्रिया को नाटक की परिभाषा में चूलिका कहते हैं। यहाँ तापसी का आगमन-सूचक वनदेवताओं का यह वाक्य चूलिका का उत्कृष्ट दृष्टांत है। वीर-चरित के चौथे अंक के प्रारंभ में भी भवभूति ने चूलिका का व्यवहार किया है*।

उत्तर-चरित के छठे अंक में एक जगह रामचंद्र लव से पूछते हैं—"तुम्हारा दूसरा भाई कौन है ?" रामचंद्र के वाक्य के समाप्त होते ही नेपथ्य से नीचे-लिखी बात सुनाई दी—

भांडायन ! भांडायन !!

आयुष्मतः किल लवस्य नरेन्द्रसैन्ये-
रायोधनं ननु किमात्थ सखे तथेति ।
अद्यास्तमेतु भुवनेष्वधिराजशब्दः
क्षत्रस्यशस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु ॥

(उत्तर, ६)

'हे भांडायन, राज-सैन्य के साथ आयुष्मान् लव का युद्ध आरंभ हो गया, क्या तुम यह कह रहे हो ? यदि युद्ध छिड़ गया है, तो संसार से 'सम्राट्' शब्द और क्षत्रिय-जाति की शस्त्राग्नि—दोनों—की समाप्ति हो जाय।'

रामचंद्र लव से जिसका परिचय पूछ रहे थे, वही कुश भांडायन के साथ बात-चीत करता हुआ अकस्मात् रंग-दर्शकों के सामने आ गया। भवभूति ने भांडायन के प्रवेश का परिहार

* अन्तर्यवनिकाच्छन्नैश्चूलिकार्थस्य सूचनम् ।

करने के लिये उसकी बात आकाश-वाणी से कहलाई है। कुश पूछता है कि राजा की सेना के साथ लव का युद्ध छिड़ा या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भांडायन को रंग-भूमि में आकर कहना पाड़ता है—'अवश्य छिड़ गया है।' किंतु सिर्फ़ इसी बात को कहने के लिये भांडायन यदि रंग-भूमि में आता, तो नाटकीय व्यक्तियों की संख्या बढ़ जाती। इसी आशंका से भवभूति ने भांडायन की बात आकाश-वाणी से कहलाकर रंग-भूमि में उसके आने का परिहार किया है। भांडायन के उपस्थित न होने पर भी कुश ने सुना—'युद्ध छिड़ गया है।' इस तरह कौशल-पूर्वक किसी व्यक्ति की बात को शून्य में आरोप करने का नाम 'आकाश-भाषित' है। *

उत्तर-चरित के पहले अंक में लिखा है कि रामचंद्र सीता को वन में भेजने का बंदोबस्त कर रहे थे, और यह सोचकर बहुत व्याकुल हो रहे थे कि उसके विरह को वह किस तरह सहन कर सकेंगे, उसी समय प्रतिहारी ने आकर उनसे कहा—'देअ, उअत्थिदो'—'हे देव, उपस्थित है।' रामचंद्र उस समय सीता के विरह की बात सोच रहे थे। इसलिये इस वाक्य को सुनकर

---

* किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत्।
श्रुत्वैवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम्॥

अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक के तीसरे अंक में आकाश-भाषित का उदाहरण इस तरह है:—

प्रियंवदे कस्येदमुशीरानुलेपनं मृणालवन्ति च नलिनीपत्राणि नीयन्ते।
आकर्ण्य किं ब्रवीषि आतपलङ्घनाय बलवदस्वस्था शकुन्तला॥
(अभिज्ञान-शाकुन्तल, ३)

उन्होंने समझा कि 'विरह उपस्थित है।' बाद को जब उन्होंने उससे पूछा—'अयि कः'—'अरे कौन आया है ?'—उस समय मालूम हुआ कि शहर से संवाद लेकर दुर्मुख-नामक दूत आया है। सीता के संबंध में प्रजा का विचार क्या है, यह जानने के लिये ही रामचंद्र ने दुर्मुख को राज्य में भेजा था। इसलिये दुर्मुख का आना सीता के वनवास के विरुद्ध न था। रामचंद्र ने सीता को उसकी इच्छा से वन में भेज दिया था, इसी समय दुर्मुख आया। राम जिस बात को सोच रहे थे, दुर्मुख ने भी आकर उसी बात को छेड़ा। किंतु भवभूति ने दुर्मुख के आगमन को इस तरह दिखाया है कि उसे देखकर कोई तर्क नहीं उठता। राम और लक्ष्मण सीता को वन में भेजने के लिये जो रथ आदि तैयार कर रहे थे, उसके साथ दुर्मुख के आने का सामंजस्य करके कवि ने नाटक के अंश-विशेष के संयोजन-कौशल को पराकाष्ठा दिखाई है। इस तरह के कौशल को नाटक की परिभाषा में 'गंड' कहते हैं। यह 'गंड' का उत्कृष्ट उदाहरण है। ❀

मालती-माधव के तीसरे अंक के अंतिम भाग में लिखा है कि माधव ने व्याघ्र-युद्ध में ज़ख्मी होकर कामंदकी से कहा था—'भगवति, मां परित्रायस्व'—'भगवति, मेरी रक्षा करो। कामंदकी ने

---

* गंडं प्रस्तुतसंबंधि भिन्नार्थं सत्वरं वचः। (साहित्य दर्पण)

वेणीसंहार-नाटक में 'गंड' का एक और दृष्टांत मिलता है—

"राजा—अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य।
पर्य्याप्तमेव करभोरु ममोरुयुग्मम्॥

अनन्तरं प्रविश्य कञ्चुकी—देव भग्नं भग्नम्।" इत्यादि

उत्तर दिया—'अति कातरोऽसि तदेति तावत् पश्यामः'—'वत्स, तुम बहुत कातर हो रहे हो, मेरे पास आओ, मैं देखूँ तो।' इसी तरह की बात-चीत पर तीसरा अंक समाप्त होता है। चौथे अंक के आरंभ में मदयंतिका, अवलोकिता और बुद्धिरक्षिता शोकाकुल होकर कामंदकी से कह रही हैं—'भगवति, माधव की रक्षा कीजिए।' इस स्थल पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि तीसरे अंक के अंत में कामंदकी और माधव इस अंक के साथ संबंध दिखाकर रंग-भूमि से चले गए थे। इस तरह अंक के अंत्य भाग में नट लोग छिन्नांक का प्रयोजन सूचित करते हैं। उसे नाट्यकार अंकास्य कहते हैं। भवभूति ने यहाँ पर अंकास्य का उत्तम दृष्टांत दिखाया है। *

नाट्य-सूत्रकारों ने रंग-भूमि में युद्ध के अभिनय का निषेध किया है। इसीलिये भवभूति ने उत्तर-चरित में विद्याधर और विद्याधरी के मुँह से लव और चंद्रकेतु के युद्ध का वर्णन कराया है। †

भवभूति का उत्तर-चरित-नामक ग्रंथ स्वयं नाटक है। इसके सातवें अंक में कवि ने और एक नाटक का अभिनय कराया है। निरपराध सीता को वन में त्यागना घोर अपराध है, यह बात देखनेवालों के चित्त पर जमा देना ही दूसरे अभिनय का मुख्य उद्देश्य है। इस स्थल पर भवभूति ने जिस कौशल से राम, लक्ष्मण आदि को उनका अन्याय समझाया है, ठीक इसी कौशल से

---

* अंकांतपात्रैरंकास्यं छिन्नांकस्यार्थसूचनात्। (साहित्य-दर्पण)

† दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गो मृत्युरतन्तथा॥ (साहित्य-दर्पण)

पाश्चात्य कवि शेक्सपियर ने हेमलेट के चचा के हृदय में तीव्र अनुताप उत्पन्न किया है। भवभूति ने नाटक के अंत में राम, सीता, लव और कुश को मिलाकर दूसरे अभिनय की और भी सार्थकता कर दी है। मिलन न होने पर उत्तर-चरित की घटना शोक-पूर्ण व्यापार के सिवा और कुछ न होती, और उत्तर-चरित-ग्रंथ नाटक-श्रेणी में स्थान न पा सकता।*

भवभूति ने किसी विशेष स्थल पर यदि बुरे वाक्यों का प्रयोग किया है, तो वे भी उनके लेखन-चातुर्य से गंभीर बन गए हैं। उत्तर-चरित के पंचम अंक में लव चंद्रकेतु से कहता है—

---

* Wilson observes:—

"They (the Hindu plays) never offer a clametous conclusion, which, as Johnson remarks, was enough to constitute a tragedy in Shakespeare's days; and although they propose to excite all the emotions of the human breast, terror and pity included, they never effect this object by leaving a painful impression upon the mind of the spectator. The Hindus in fact have no tragedy; The absence of tragic catastrophe in the Hindu dramas is not merely an unconscious omission, such catastrophe is prohibited by a positive rule. The conduct of what may be termed the classical drama of the Hindus is exemplary and dignified. Nor is its moral purport neglected; and one of their writers declares, in an illustration familiar to ancient and modern Poetry, that the chief end of the theatre is to disguise by the insidious sweet, the unpalatable, but salutary bitter, of the cup."

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते ।
सुन्दस्त्रीदमनेप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ॥
यानि त्रीण्यपराङ्मुखान्यपि पदा न्यासन् खरायोधने ।
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञोजनः ॥
(उत्तर, ५)

'हे चंद्रकेतु, रघुपति की महिमा को कौन नहीं जानता? वह प्राचीन हैं, इसलिये उनके चरित्र की आलोचना करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है, उनके चरित्र-वर्णन का प्रयोजन नहीं है। ताड़का को मारकर भी उन्हें स्त्री-वध का पाप नहीं लगा, संसार में उनका यश अक्षुण्ण है। उन्हें सब प्रधान मनुष्य समझते हैं। खर और दूषण के मारने में भी उन्होंने पीछे को तीन क़दम भी न रक्खे, और वाली को मारने में उन्होंने जो कौशल दिखाया है, उसे तो सभी जानते हैं।'*

भवभूति ने अपने नाटकों के विभिन्न स्थलों में विभिन्न रसों का संचार किया है। कहीं वीर, कहीं करुणा और कहीं बीभत्स आदि रसों के संचार से उनके तीनों नाटक देखनेवालों के आनंद की सामग्री हो गए हैं। पढ़ने और सुननेवाले उन विभिन्न रसों का आस्वादन करके परम प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।

वीर-रस के उदाहरण में वीर-चरित के दूसरे अंक से नीचे लिखा स्थल उद्धृत किया जाता है—

"कैलासोद्धारसार त्रिभुवनविजयैर्जित्यनिष्णातदोष्णः
पौलस्त्यस्यापि हेलोपहतरणमदोदुर्दमः कार्त्तवीर्य्यः ।

---

* तमापतन्तं संक्रुद्धं कृतास्त्रो रुधिरप्लुतम् ।
अपासर्पद्वभिन्नपदं किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥—(रामायण)

यस्य क्रोधात् कुठारप्रविघटितमहास्कन्धबन्धस्थवीयो
दोः शाखादण्डमुण्डस्तरुरिव विहितः कुल्यकन्दः पुराभूत् ॥
सोऽयं त्रिःसप्तवारानविकलविहतःक्षत्रतन्तुप्रसारो
वीरः क्रौञ्चस्य भेदात् कृतधरणितला पूर्वहंसावतारः।
जेता हेरम्बभृङ्गिप्रमुखगणचमूचक्रिणस्तारकारे-
स्त्वां पृच्छन् जामदग्न्यः स्वगुरु हरधनुर्भङ्गरोषादुपैति ॥"

'जिसने अपनी भुजाओं से अनायास कैलास को उठा लिया था, और तीनों भुवनों को जीत लिया था, उस रावण का जिस कार्त्तवीर्य ने रण-मद नष्ट किया था, उसी कार्त्तवीर्य के स्कंध, बाहु और मस्तक काटकर जिसने मूलमात्रावशेष शुष्क वृक्ष के समान हड्डियों का ढेर-मात्र छोड़ दिया था, जिसने इक्कीस बार क्षत्रियों का प्रसार नष्ट किया था, जिसने क्रौंच-पर्वत को तोड़कर पृथ्वी पर आने के लिये अपूर्व हंसों का एक नया द्वार बनाया था, हेरंब-भृंगि-प्रमुख सेना-मंडल से घिरे हुए कार्त्तिकेय को जिसने हराया था, वही वीर जामदग्न्य (परशुराम) अपने गुरु शिव के धनुष टूट जाने पर उत्तेजित होकर रामचंद्र को ढूँढ़ते हुए आए हैं।'

करुणा-रस के दृष्टांत में उत्तर-चरित के तीसरे अंक से नीचे-लिखा श्लोक उद्धृत किया जाता है—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि ॥

'राम सीता को लक्ष्य करके कहते हैं—"हा देवि! मेरा हृदय फटा जाता है, देह-बंधन ढीला पड़ रहा है, मुझे संसार

शून्य दिखाई दे रहा है, अंतःकरण जल रहा है, शोक से अभि-भूत मेरी अंतरात्मा अवसाद को प्राप्त होकर मानो घने अंधकार में डूबी जाती है, हर तरफ़ मोह-ही-मोह दिखाई देता है, ऐसी अवस्था में यह मंद-भाग्य किस तरह ज़िंदा रहेगा ?'

शृंगार-रस के उदाहरण में मालती-माधव के आठवें अंक से नीचे-लिखा श्लोक उद्धृत किया जाता है—

> दग्धं चिराय मलयानिलचन्द्रपादैः
> निर्वापि तन्तु परिरभ्य वपुर्ननाम ।
> आमत्त कोकिलरुत व्यथिता तु हृद्या
> मद्यश्रुतिः पिवतु किन्नरकण्ठिवाचम् ॥

माधव मालती से कहता है—"बहुत दिनों से तूने मेरे मलयानल और चंद्र-किरण से ए शरीर को आलिंगन द्वारा शांत नहीं किया । हे किन्नरकंठि मालति, मत्त कोकिल की आवाज़ को सुनकर मेरे कान जो उत्तप्त हो गए हैं, आज वे ही कान तेरे कंठ से निकले मनोहर वाक्यों को सुनें ।"

नीचे स्वभावोक्ति का दृष्टांत लिखा जाता है—

> पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
> विपर्य्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
> वहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम् ।
> निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥
>
> (उत्तर, ३)

"पहले जहाँ नदी थी, वहाँ अब जंगल है । पहले जहाँ जंगल था, वहाँ अब पेड़ का पत्ता नहीं है । जहाँ पेड़ों का अभाव था, वहाँ वृक्षों का बाहुल्य है । बहुत दिनों बाद देखने से यह वन मुझे बिलकुल नया मालूम होता है । हाँ, केवल पर्वत वही हैं, और इसीसे मालूम होता है कि यह वही वन है ।"

भवभूति सरल भाषा में भी मधुर श्लोक बना सकते थे। नीचे-लिखे श्लोक में अनुप्रासालंकार और प्रसाद-गुण दोनों ही मौजूद हैं—

असारं संसारं परिमुषितरत्नं त्रिभुवनं।
निरालोकं लोकं मरण शरणं बान्धवजनम्॥
अदर्पं कंदर्पं जन-नयननिर्माणमफलं।
जगज्जीर्णारण्यं कथमसि विधातुं व्यवसितः॥

(मालती, ५)

'तू संसार को असार करके त्रिभुवन से मालती-रत्न हरने की चेष्टा कर रहा है। मालती के अभाव से संसार प्रकाश-हीन हो जायगा। उसके बंधु मर जायँगे, कंदर्प का दर्प नष्ट हो जायगा। मनुष्यों की आँखें बेकार हो जायँगी; वास्तव में सारा संसार उजड़ा हुआ जंगल हो जायगा।'

राम कैसे दुस्सह शोक को भोग रहे थे, भवभूति लिखते हैं—

अनिर्भिन्नगभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो* रामस्य करुणो रसः॥ (उत्तर, २)

'किसी मुँदे मुँह के बरतन में यदि कोई चीज़ रखकर उसे आग पर रख दिया जाय, तो वह चीज़ भीतर से तो गल जाती है, पर बाहर से वैसी ही बनी रहती है। इसी तरह राम को स्वाभाविक गांभीर्य ने छोड़ा तो नहीं था, पर उनके भीतर जो व्यथा थी, उसका बाहर कोई चिह्न न था।'

बाल-बच्चेवाले नीचे-लिखे श्लोक को पढ़कर भवभूति के रचना-नैपुण्य की प्रशंसा करेंगे—

* पुटपाकः—बहिर्मृदादिलिप्तस्य अंतःस्थस्य कूष्मांडस्य पाकः।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात् ।
आनन्दग्रन्थिरेकोयमपत्यमिति बध्यते ॥

(उत्तर, २)

'स्वामी और स्त्री की एक-सी प्रीति होने के कारण संतान दोनों के अंतःकरणों को आनंद की ग्रंथि से बाँध देती है ।'

मालती और माधव के विवाह के समय कामंदकी ने एक श्लोक में स्वामी और स्त्री के परस्पर संबंध को कितनी अच्छी तरह दिखाया है—

कामं०—"प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा
सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितञ्च ।
स्त्रीणां भर्त्ता धर्म्मदाराश्च पुंसां
इत्यन्योऽन्यं वत्सयोर्ज्ञातिमस्तु ॥"

(मालती, ६)

'वत्सद्वय, तुम्हें याद रखना चाहिए कि स्त्री का पति और पति की स्त्री प्रियतम मित्र हैं । मित्रता, आशा, कामना और जीवन तक दोनों का एक है ।' *

---

* भवभूति के वर्णन-कौशल और शब्द-विन्यास की पूरी आलोचना यहाँ असंभव मालूम होती है । श्रीयुत राजेंद्रचंद्र शास्त्री एम० ए० ने 'कवि और काव्य'-शीर्षक निबंध में भवभूति के कवित्व की कुछ आलोचना की है । उस प्रबंध में से नीचे-लिखा स्थल उद्धृत किया जाता है—

अनेक मनुष्यों ने पर-देश से आए पति पर पति-प्राणा स्त्री की साकांक्ष दृष्टि को गड़ी हुई देखा होगा । किंतु कितने मनुष्य उस दृष्टि का भवभूति की तरह वर्णन कर सकते हैं ?

विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानंदशोकं,
प्रभवभवसृजन्ती तृष्णयोत्तानदीर्घा ।

आलंकारिकों को भवभूति के काव्यों में कहीं-कहीं दोषों की बू आई है। वीर-चरित के दूसरे अंक में परशुराम और रामचंद्र में

स्नपयति हृदयेशं स्नेहनिष्पंदिनी ते,

धवलबहलमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः ॥

बहुत दिनों के बाद शूद्रक को मारने के लिये दंडकारण्य में रामचंद्र को आया देख सीता उन्हें बड़े सतृष्ण भाव से देख रही हैं। कवि तमसा के मुँह से इसका वर्णन कराता है। दुर्भाग्य से देव-वाणी को छोड़कर और किसी भाषा में गूढ़ से गूढ़तर भावों को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं है। यही कारण है कि हम असंस्कृतज्ञ पाठकों को समुद्र से उत्पन्न हुए इस अमृत का आस्वादन पूरी तरह नहीं करा सकते। श्लोक का अनुवाद यह है—

आनंद और शोक से उत्पन्न हुए आँसुओं से भरी हुई, सतृष्ण, दीर्घ-विस्फारित स्नेह-पूर्ण, साफ़ और अत्यंत मुग्ध तुम्हारी दृष्टि (नेत्र) दूध की नदी की तरह प्राणेश्वर को स्नान करा रही है।

महाकवि भवभूति ने यहाँ स्नपयति, स्नेहनिष्पंदिनी और दुग्धकुल्येव आदि कई शब्दों का प्रयोग करके अपनी असाधारण कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। पाठक, 'दृष्टि प्राणेश्वर को स्नान करा रही थी', इस बात में कितना गूढ़ भाव छिपा हुआ है!!

चलिए, अब हम महाकवि भवभूति के साथ उस स्थान पर चलें, जहाँ रामचंद्र शूद्र तपस्वी के सिर काटने का उद्योग कर रहे हैं। संभव है, आप कहते हों कि उस जगह जाने की क्या आवश्यकता है, जहाँ एक निरपराध व्यक्ति धर्म-पत्नी को त्याग देनेवाले के हाथ से मारा जायगा। वह दृश्य क्या कुछ देखने लायक है? वहाँ पहुँचकर तो मन में एक साथ ही क्रोध, घृणा, करुणा आदि भावों के उदय होने की संभावना है। इसलिये जाने की आवश्यकता नहीं। बात ठीक है; पर आप यह भी जानते हैं कि कवि जादूगर होता है। वह अपनी मोहनी-शक्ति से उस दृश्य को भी मनोहर कर सकता है, और फिर कवि भी भवभूति-जैसा? इसी लिये, चलिए जरा देख आएँ।

देखिए, रामभद्र प्रवेश करता है, "ततः प्रविशति सदयोद्यतखड्गो रामभद्रः"—

परस्पर युद्ध की बातचीत हो रही है। परशुराम रामचंद्र को युद्ध के लिये ललकार रहे हैं। इसी समय कंचुकी ने आकर निवेदन

सुनिए तो सही, उससे रामचंद्र क्या कहते हैं—

रामः—रे हस्त दक्षिण, मृतस्य शिशोर्द्विजस्य, जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य गात्रमसिदुर्वहगर्भखिन्न सीतानिवासनपटोः करुणा कुतस्ते॥

'रे दाहने हाथ, तूने ब्राह्मण के मृत पुत्र के जीवन के लिये शूद्र मुनि पर खड्ग छोड़ा। रे हाथ, तू राम का अंग है, तू गर्भ से खिन्न सीता को निकालने में कृतकार्य हो चुका है, तुझमें करुणा का क्या काम ?'

अब इस श्लोक के गूढ़ार्थ की पर्यालोचना करनी चाहिए—

पहले तो रामचंद्र का एक विशेषण है 'सदयोद्यतखड्गः' अर्थात् दया के साथ उठाया है खड्ग जिसने। 'सदय' विशेषण से हन्यमान तपस्वी पर दया का प्रकाश होता है, और दूसरी बात यह भी है कि अति क्रूर कर्म को करते समय भी दया आदि स्वाभाविक सद्गुण महात्माओं को नहीं छोड़ते, यह भी इससे सूचित होता है। इस भाव को भवभूति ने एक और श्लोक में बाँधा है—

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमान्यपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।'

रामचंद्र ने अवश्य लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग किया था। किंतु उन्होंने अश्वमेध-यज्ञ करते समय, स्वर्ण की सीता बनाकर सस्त्रीक यज्ञ करना चाहिए, इस शास्त्र-वाक्य का पालन किया था। इसी स्थल पर भवभूति ने कहा था—'अलौकिक मनुष्यों का चित्त वज्र से भी कठिन और फूल से भी कोमल होता है।'

'सदयोद्यत' खड्ग का यही तात्पर्य है। 'रे हस्त दक्षिण' अचेतन हाथ को चेतन समझकर क्यों संबोधन किया है ? तो क्या यह कर्म इतना बुरा था कि अचेतन भी उसे करना तो क्या, उसका अनुमोदन भी न करेगा ?

वास्तव में रामचंद्र शूद्र-तपस्वी के वध को वैसा ही समझते थे। इसीलिये हाथ को यह कठोर कर्म करने के लिये कहते हैं—'मृतस्य शिशोर्द्विजस्य जीवातवे विसृज शूद्र-मुनौ कृपाणम्'—अर्थात, रे हाथ, तू यह काम कर डाल, यह काम बुरा है, पर

किया—"राजन्, कँगना खोलने के लिये रामचंद्र को अंदर भेज दीजिए।" परशुराम की आज्ञा लेकर रामचंद्र अंदर चले गए। आलंकारिक मम्मट भट्ट इसे अकांडच्छेद-दोष का उदाहरण समझते हैं।

संस्कृत-साहित्य में भवभूति के काव्यों को जो ऊँचा स्थान मिला है, उसका कारण उनकी भाषा की उत्कृष्टता ही नहीं है। ऐतिहासिक चाहें, तो उनके काव्यों से सामाजिक रीति-नीति के संबंध में अनेक तत्त्वों का आविष्कार कर सकते हैं। भूतत्त्व के अन्वेषण करनेवाले उनके तीनों नाटकों में से प्राचीन भारत

इससे ब्राह्मण का मृत पुत्र जी जायगा, यह एक लाभ होगा। और एक बात है, जब मनुष्य कोई बुरा काम करता है, तब उसे अनेक युक्तियों से अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। यह मनुष्य-हृदय का गूढ़ तत्त्व है। यही तत्त्व क्या 'मृतस्य शिशोर्द्विजस्य' आदि वाक्यों में परिस्फुट नहीं होता? जब ब्राह्मण के पुत्र को जिंदा करने के लिये मैं यह काम कर रहा हूँ, तब यह गर्हित-कर्म नहीं है। इस युक्ति से भी जब उनके मन को संतोष नहीं हुआ, तब उन्होंने सोचा—इसे करने में मुझे इतना सोच-विचार क्यों है? मैंने तो निरपराध और गर्भिणी सीता को निकालने में इससे कहीं अधिक कठोर कार्य किया है, उस समय तो निर्घृणता की पराकाष्ठा कर दी थी। अब इस शूद्र तपस्वी के वध में इतनी दया क्यों है? और क्या—'रे दाहने हाथ, तू गर्भिणी सीता को निकालने में पटुता दिखा चुका है, तुझमें दया का क्या काम, फिर इस तपस्वी को मारने में क्यों आनाकानी करता है'? पाठक, देखिए, अंत के चरणों से कितना मर्मभेदी क्लेश, कृत-कर्म्म-द्वेष और आत्मावमानता का भाव प्रकट होता है। पुनः 'सद्योद्यतखड्ग' और समस्त श्लोक से नायक की महानुभावता और कर्त्तव्य-सुखप्रेक्षिता का पता मिलता है। अब बताइए, ऐसे नायक की भक्ति करनी चाहिए या नहीं? ऐसे नायक के दुःख पर रोना चाहिए या नहीं? ऐसे नायक के परिताप पर अंतःकरण दुःख से भर जाता है या नहीं?

के अनेक देश, नगर, नदी और पर्वतों का पता लगा सकते हैं। विभिन्न प्रकार की अवस्थाओं में निपतित होने से नर-नारियों के चित्त में जो वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे भवभूति के काव्यों में अच्छी तरह प्रस्फुटित हुई हैं। उन्होंने करुण रस का वर्णन करके ही लोगों के चित्तों को पिघला दिया हो, सो बात नहीं। प्रकृति की भीषण और सूक्ष्म मूर्ति को भी मनोरम भाषा में व्यक्त करके उन्होंने पाठकों के चित्तों को एकाग्र कर दिया है। राम के विलाप को सुनकर अनेक सहृदय व्यक्ति आँसू नहीं रोक सकते। आंतरिक प्रेम को उदार वाक्यों द्वारा किस तरह प्रकट किया जाता है, यह बात सीखकर प्रेमी लोग उनका धन्यवाद करेंगे। संसार से विरक्त मनुष्य उनके काव्य में प्रशांत-गंभीर भाव को देखकर शांति प्राप्त करेंगे। काल की सर्व-संहारिणी शक्ति को व्यर्थ करके भवभूति के काव्य आज भी विद्यमान हैं, और जबतक संसार में संस्कृत-भाषा का आदर रहेगा, तबतक उनके काव्य किसी तरह भी लुप्त नहीं होंगे। पाश्चात्य पंडित-मंडली में भवभूति की बड़ी प्रतिष्ठा है। कोलब्रुक साहब के मत में मालती-माधव नाटक अनुपम है, विल्सन साहब ने भवभूति की कवित्व-शक्ति की बड़ी प्रशंसा की है। एलफिंस्टन साहब कहते हैं कि ओज-गुण के वर्णन में हिंदू-कवियों में भवभूति को सब से ऊँचा स्थान मिलना चाहिए।

कालिदास और भवभूति की तुलना

जिन नाट्यकारों की प्रशंसा अबतक समग्र भारतवर्ष में होती रही है, उनमें कालिदास और भवभूति सर्व-प्रधान हैं। किंतु इन दोनों कवियों में कौन श्रेष्ठ हैं, इस विषय में आरंभ से मत-भेद चला

आता है। यह दोनों ही प्रथम श्रेणी के कवि हैं, और इन दोनों ने लेखन-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। कालिदास की कल्पना अनंत है, और चित्त-वृत्ति के चित्रण में भवभूति जवाब नहीं रखते। कालिदास की रचना-प्रणाली सरल और आडंबर-शून्य है, पर भवभूति की लेखन-भंगी विस्तृति-पूर्ण और दीर्घ-समास-संकुल है। कालिदास की भाषा मृदु और कोमल है, भवभूति की भाषा सतेज और उदात्त है। कालिदास ने अपने नाटकों में जिन व्यक्तियों का चरित्र चित्रित किया है, वे सभी आदर्श जगत् के मनुष्य हैं, इस पृथ्वी पर उन्होंने कभी पाँव तक नहीं रक्खा। किंतु भवभूति ने जिनका चरित्र अंकित किया है, वे सचमुच इसी पृथ्वी के रहनेवाले थे। इसीलिये मनुष्य-समाज की रीति-नीति और आचार-विचार तथा व्यवहार-सभ्यता आदि का प्रतिबिंब उनके चरित्रों में अच्छी तरह पड़ा है। आदि-रसके वर्णन में कालिदास अद्वितीय हैं, वीर और करुण रस के वर्णन में भवभूति ने अपनी असाधारण क्षमता दिखाई है। पहले लोग कह गए हैं—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते'—करुणा-रस का वर्णन भवभूति ने ही किया है। उनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है—'उत्तररामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'—उत्तर-रामचरित-प्रणेता भवभूति कालिदास से आगे बढ़ गए हैं। गोवर्द्धनाचार्य ने आर्या-सप्तशती में लिखा है—

भवभूतेः संबन्ध्याद्भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृत कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

'और तो क्या, भवभूति के करुण रस का वर्णन सुनकर पत्थर भी रो देते हैं।'

कालिदास ने लक्ष्य और व्यंग्यार्थ द्वारा ही रसको प्रस्फुटित किया है। किंतु भवभूति के काव्य में वाच्यार्थ द्वारा ही रस प्रकट हुआ है। कालिदास ने सिर्फ़ रस की सूचना ही दी है; किंतु भवभूति ने उसका स्पष्ट प्रकाश किया है। अभिज्ञान-शाकुंतल के तीसरे अंक में मदन-बाणाहत दुष्यंत शकुंतला को देखकर हर्ष से कहता है—

अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते।

'मेरी आँखें तृप्त हो गईं। मेरी मनोरथ-प्रियतमा शकुंतला फूल-बिछी शिला पर लेटी हुई है, और दो सखियाँ उसकी सेवा कर रही हैं।'

इस दृश्य के साथ मालती-माधव के तीसरे अंक के उस स्थल की तुलना करनी चाहिए, जहाँ माधव ने मालती को देखा था। माधव कहता है—

अविरलमिवदाम्ना पौण्डरीकेण बद्धः
स्नपित इव च दुग्धस्रोतसा निर्भरेण।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन
प्रसभममृतवर्षेणेव सांद्रेण सिक्तः॥ (मालती, ३)

'मानों पद्म-दल से मैं बँध गया हूँ, मानों दूध के सोते में मैं स्नान कर रहा हूँ, कानों तक फैले हुए नेत्रों से मानों मालती ने मेरा ग्रास कर लिया है, मानों अमृत की वर्षा से मैं तर हो गया हूँ।'

शकुंतला को देखकर दुष्यंत को जो तृप्ति हुई थी, उसका कालिदास ने कुछ वर्णन नहीं किया। 'नेत्र-निर्वाण' से दुष्यंत के आंतरिक भाव का अनुमान लगाना पड़ता है। किंतु मालती को

देखकर माधव की जो अवस्था हुई, उसे हमने अच्छी तरह प्रत्यक्ष किया। भवभूति ने सतेज भाषा में वह अवस्था हमारे सामने उपस्थित कर दी। कमल-दल में घिर जाने से जो अवस्था होती है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करने योग्य है।

भवभूति ने जिन शब्दों का व्यवहार किया है, उनकी परीक्षा से अनेक रहस्यों का आविष्कार हो सकता है। उनके ग्रंथों को विचार-पूर्वक देखने से पता लगता है कि उनका अमर-कोश पर असाधारण अधिकार था। अमरसिंह ने अस्थि, रक्त, युद्ध, क्रकच आदि जितने पर्यायवाची शब्द लिखे हैं, भवभूति के काव्य में वे सब मौजूद हैं। उन्होंने बहुत-से ऐसे शब्द भी व्यवहार किए हैं, जो अमर-कोश में नहीं मिलते। ऐसे कुछ शब्द नीचे लिखे जाते हैं—

भवभूति का शब्द-तत्त्व

शब्द	अर्थ	ग्रंथ
आकूत	अभिप्राय	उत्तर, ५
उत्पीड	वृद्धि	उत्तर, ३
कुट्टाक	छेदक	वीर, २
कण्डरा	स्नायु	वीर, ५
कन्दल	समूह	उत्तर, ३
कुम्भीनस	सर्प	उत्तर, २
खुरली	निपुण, अभ्यास	वीर, २
नलक	दीर्घ अस्थि	वीर, ५
प्रचलाकिन्	मयूर	उत्तर, २
अति सूर्य्यक	कृकलास	उत्तर, २

प्राग्भार	१ शिखर	मालती, ९
	२ अग्रतट	मालती, ५
	३ राशि	मालती, ५
मौकुलि	काक	उत्तर, २
रणरणक *	उद्वेग	मालती, १
रुण्ड	कवंध	उत्तर, ५
व्यातिकर	संपर्क	उत्तर, ५
संस्त्याम	१ गृह २ विश्रंभालाप	वीर, १

'स्यात् शरीरास्थि कंकालः' में अमरसिंह ने 'कंकाल' शब्द की पुल्लिंगता निर्देश की है; किंतु भवभूति ने वीर-चरित के पाँचवें अंक में इस शब्द को नपुंसक-लिंग माना है।

भवभूति को वैदिक साहित्य में बड़ी गंभीर व्युत्पत्ति थी। अमर-कोश से अधिक वैदिक कोश पर उनका अधिकार था।

वैदिक शब्द

उन्होंने ऐसे अनेक वैदिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो लौकिक व्याकरण द्वारा किसी तरह सिद्ध नहीं किए जा सकते। वीर-चरित और मालती-माधव के पहले अंक में भवभूति ने जो 'सोमपीथिन' † शब्द का प्रयोग किया है, वह 'सोमपीथ' से 'इन्' प्रत्यय लाकर सिद्ध किया जाता है।

* 'रणरणको वियोगतरुरिति मालती-माधव-टीकायां जगद्धरः।'
'औत्सुक्ये यण रणकः स्मृत इति हलायुधः॥'

† सूत्र०—सोमपीथिन उडुम्बरा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति। (वीर, १)
सूत्र०—सोमपीथिनो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्तिस्म॥ (मालती, १)

'सोमपीथ' शब्द केवल वैदिक साहित्य में ही व्यवहृत होता है; लौकिक भाषा में नहीं; और न लौकिक व्याकरण के अनुसार वह सिद्ध हो सकता है। ऋग्वेद की टीका में सायनाचार्य लिखते हैं—"वैदिक व्याकरण के 'पातृ तुदि वचि' सूत्र से 'पा' धातु के आगे 'थक्' प्रत्यय लाकर 'पीथ' शब्द बनता है। ऋग्वेद के पहले अध्याय के ५१वें मंडल के सातवें सूक्त में 'तव राधः सोमपीथाय हर्षते' आदि मंत्र में 'सोमपीथ' शब्द का प्रयोग हुआ है।

वीर-चरित के पहले अंक में 'सूनृत' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द भी वैदिक है। सायनाचार्य लिखते हैं—'सुतरामुनयति अप्रियमिति सूनृतञ्चेदं ऋतञ्चेति सूनृतम्'—'जो अप्रिय को दूर करे, उसे ही सून् कहते हैं। 'सून' प्रिय, जो 'ऋत' सत्य है, उसे ही सूनृत कहते हैं। 'सूनृत' शब्द का अर्थ है—'प्रिय सत्य'।

भवभूति ने वीर-चरित के पहले अंक में 'अरिष्टताति' और मालती-माधव के नवें अंक में 'शिवताति' शब्द का प्रयोग किया है। ये दोनों शब्द भी केवल वैदिक साहित्य में ही प्रयुक्त हुए हैं। ऋग्वेद के दशम अध्याय के १३७ वें मंडल के चौथे सूक्त में 'अरिष्टताति' शब्द का व्यवहार हुआ है। पाणिनीय व्याकरण के वैदिक प्रकरण में चौथे अध्याय का ४६वाँ सूत्र है—'शिवशमरिष्टस्य करे'—७४, ४६ हाथ के अर्थ में शिव, शम और अरिष्ट शब्द के आगे 'ताति' प्रत्यय हो। वैदिक 'ताति' प्रत्यय से बने 'अरिष्टताति शब्द का अर्थ है 'शुभ कर'।

भवभूति के ग्रंथों में वैदिक शब्दों का, जैसा कि ऊपर

उल्लेख हुआ है, बाहुल्य देखा जाता है। उन्होंने समस्त वेद पढ़े थे। वैदिक शब्द और वैदिक भाव उनके स्मृति-पथ में हर समय मौजूद रहते थे। इसीलिये उनके काव्यों में वेद का प्रतिबिंब सोलह आने दिखाई पड़ता है।

पालि शब्द

भवभूति के काव्य में पाली भाषा का भी पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। मालती-माधव और उत्तर-चरित की प्रस्तावना में सूत्रधार ने दूसरे नट को 'मारिष' कहकर संबोधन किया है। मृच्छ-कटिक और अभि-ज्ञान-शाकुंतल आदि नाटकों में 'मारिष' शब्द की जगह 'आर्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। भरत-सूत्र में लिखा है—'किञ्चिदुनस्तु मारिषः'—कुछेक न्यून व्यक्ति को 'मारिष' कहकर संबोधन करते हैं। अब देखना यह है कि संस्कृत-भाषा में 'मारिष' शब्द कहाँ से आया। पालि-ग्रंथों में 'मारिसः' शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है। नाट्य-सूत्रकार भरत ने जिस अर्थ में 'मारिष' का प्रयोग बताया है, ठीक उसी अर्थ में पाली-भाषा में 'मारिस' शब्द का प्रयोग मिलता है। अध्यापक Frank Furter अपने Hand-Book of Pali-नामक ग्रंथ के १७१ पृष्ठ पर लिखते हैं—आदर-पूर्वक संबोधन करने में 'मारिष' का प्रयोग किया जाता है। 'आयनाटिय सूत्त' में यक्षपति वैश्रवण 'उलाड़ा' नाम के यक्ष को संबोधन करके कहता है—

"मारिष"

"नं एसो मारिस, अमनुस्सेसो लभेय्य गमेसु वा निगमेसु वा सक्कारं वा गरुकारं वा।

नं एसो मारिस, अमनुस्सेसो लभेय्य आलकमन्दाय राजधानिया वत्थुं वा वासं वा।

नं ऐसो मारिस, अमनुसेसो लभेय्य यक्‍खानं सामितिं गन्तुं।"

(आयनाटिय सूत्त)

पाली-भाषा के 'मारिस' शब्द से संस्कृत 'मारिष' शब्द की उत्पत्ति हुई है, ऐसा मान लेना अनुचित नहीं मालूम होता। पाली की वर्णमाला में 'श' और 'ष' नहीं हैं। इसीलिये वहाँ 'मारिस' शब्द है। जब यह शब्द संस्कृत में दाखिल हुआ, तब उसे 'षत्त्व-विधि' के आगे सिर झुकाना पड़ा। पाली-भाषा का दक्षिण में अधिक विस्तार था, और भवभूति भी दक्षिण में ही उत्पन्न हुए थे। इसलिये उनके काव्यों में पालि-भाषा का प्रभाव देखकर हमें आश्चर्य न करना चाहिए।

पाली का 'मारिस' शब्द संस्कृत के किस शब्द का अपभ्रष्ट रूप है—ललित-विस्तर, जातकमाला, अष्टसाहस्रिका, प्रज्ञा-पारमिता आदि पुराने पाली-ग्रंथों के देखने से पता चलता है कि बौद्ध संस्कृत-ग्रंथों का 'मार्ष' शब्द ही पाली में 'मारिस' बन गया है। बौद्ध संस्कृत-ग्रंथों में 'मार्ष' शब्द की विशेषता यह है कि वह कुछेक न्यून व्यक्ति के लिये तो आता ही है, किंतु कभी-कभी उच्चतर व्यक्ति और अत्यंत नीच व्यक्ति के लिये भी उसका प्रयोग किया जाता है। ललित-विस्तर के १५ वें अध्याय में इंद्र देवताओं को संबोधन करके कहते हैं—

'अद्य मार्ष बोधिसत्त्वोभिनिष्क्रमिष्यति।'—

'हे पूजनीय देवगण, आज बोधिसत्व गृह-त्याग करेंगे।'

अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता के तीसरे विवर्त्त में देवता इंद्र को संबोधन करके कहते हैं—

'उद्‌गृहीतव्या मार्षप्रज्ञापारमिता। धारयितव्या मार्षप्रज्ञापारमिता।

चाचयितव्या मार्षप्रज्ञापारमिता । मार्षप्रज्ञापारमिता । प्रवर्त्तयितव्या मार्ष-प्रज्ञापारमिता । देशयितव्या मार्षप्रज्ञापारमिता । उपदेष्टव्या मार्षप्रज्ञापार-मिता । स्वध्येतव्या मार्षप्रज्ञापारमिता ।'

'हे पूजनीय देवेंद्र, परम ज्ञान की प्राप्ति करनी चाहिए, उसे धारण करना चाहिए, उसका प्रचार करना चाहिए, उसकी उपलब्धि करनी चाहिए, उसे फैलाना चाहिए, उसका आदेश करना चाहिए, उसका उपदेश करना चाहिए, मतलब यह कि उसे उद्देश में रखकर तरह-तरह से उसकी आलोचना करनी चाहिए ।'

बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण में ललित-विस्तर का ५५८ पृष्ठ देखने से मालूम होता है कि बुद्ध ने किसी नाविक को 'मार्ष' शब्द से याद किया है—

'अद्य खलु भिक्षवस्तथागतो नाविकसमीपमुपागमत् पारसंतरणाय । स प्राह—प्रयच्छ गौतम तर पण्यम् । न मेऽस्ति मार्ष तर पण्यं इत्युक्त्वा तथागतो विहायसा सर्वातीरात् परं तीरमगमत् ।'

"इसके बाद 'तथागत' नदी पार करने के लिये नाविक के पास गए । नाविक ने कहा—तथागत, मज़दूरी दिलवाइए । इस पर तथागत बोले—हे नाविक, मेरे पास धन नहीं है, यह कह-कर तथागत आकाश-मार्ग से नदी पार कर गए ।"

जातकमाला-ग्रंथ में बुद्ध कंदर्प को संबोधन करके कहते हैं—'बोधिसत्त्व, मार्ष मर्षयतु भवान्'—महाशय, मुझे क्षमा कीजिए ।'

करुणा-पुण्डरीक-ग्रंथ के तृतीय परिवर्त्त में ७० हज़ार यक्ष वैश्रवण और अन्यान्य यक्षों से कहते हैं—

सप्ततिर्यक्षसहस्राणि कथयंति वयं मार्षा भगवतोऽर्थायाहारं सज्जीकरिष्यामो भिक्षुसंघस्य च ।

'हे महाशय, हम भगवान् बुद्ध और भिक्षु-संघ के लिये आहार जुटाते हैं ।

ऊपर जो स्थल उद्धृत किए हैं, उनसे मालूम होता है कि इंद्र देवताओं को, देवता इंद्र को, बुद्ध कंदर्प और नाविक को, यक्ष वैश्रवण और अन्यान्य यक्षों को 'मार्ष' शब्द से संबोधन करते थे ।

नाट्य-सूत्रकार भरत ने 'मारिष' शब्द के प्रयोग में और पाली-ग्रंथकारों ने 'मारिस' के प्रयोग में जो नियम बनाया था, प्राचीन बौद्ध संस्कृत-ग्रंथों में उस तरह का कोई नियम न था । जिस तरह संस्कृत भाषा का 'आर्य' शब्द पाली में 'अरिय' हो गया, उसी तरह संस्कृत का 'मार्ष' शब्द पाली में सुकोमल 'मारिस' बन गया । रेफ-युक्त षकार का उच्चारण कुछ मुश्किल है, इसीलिये पाली-भाषा में 'र' में 'इ' लगाकर 'र' और 'ष' में व्यवधान कर दिया है ।

भवभूनि ने उत्तर-रामचरित के पहले अंक में 'आवुत्त' शब्द का व्यवहार किया है । उत्तर-चरित के टीकाकारों के मत में

"आवुत्त"

इस शब्द का अर्थ है—'भगिनीपति'—'बहनोई' । रामचंद्र अष्टावक्र से पूछते हैं—

'निर्विघ्नः सोमपीथी आवुत्तो मे भगवान् ऋष्यशृंगः ।'

'मेरे बहनोई ऋष्यशृंग सोमयज्ञ का संपादन निर्विघ्न-रूप से करते हैं ?'

इस जगह 'आवुत्त' शब्द का अर्थ 'बहनोई' असंगत नहीं है । साहित्य-दर्पण के मत में भी नाटक में 'आवुत्त' शब्द 'बहनोई' के अर्थ में आता है ।

कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुंतल नाटक के छठे अंक के आरंभ में ही 'आबुत्त' शब्द का व्यवहार किया है। नगर के पहरा देनेवाले राजा के साले से कहते हैं—

जं आबुत्त आनवेई कहेसु'—अर्थात् 'आबुत्त' की जो आज्ञा हो कहिए।

जिस समय राजा के सामने उनका साला गया, उस समय उन्होंने फिर कहा—

पविश ऊ आबुत्त शामियशादश्श।

'महाराज को प्रसन्न करने के लिये आबुत्त अंदर गया।'

छठे अंक में ६ जगह 'आबुत्त' शब्द आया है। इन स्थलों में वह किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसका निर्णय करना कठिन है। अभिज्ञान-शाकुंतल के कुछ टीकाकार सब जगह उसे भगिनीपति के अर्थ में ही व्यवहृत बताते हैं। राजा के साले को प्रसन्न करने के लिये ही पहरेदारों ने 'आवुत्त' कहकर संबोधन किया था। किंतु हमें यह बात ठीक नहीं मालूम होती; क्योंकि राजा के साले की अनुपस्थिति में एक आदमी ने उन पहरेदारों से पूछा—

प्रथमतः। जानुअ चिला अई आबुत्त। (अभिज्ञान-शाकुंतल, ७६)

'हे जानुक, आवुत्त के आने में देर होती है।'

राजा के साले को प्रसन्न करने के लिये ही संतरियों ने उसे आबुत्त कहा होता, तो उसकी अनुपस्थिति में उसे आबुत्त कहने की कुछ आवश्यकता न थी। प्राचीन कवि कालिदास के ग्रंथ में इस प्रयोग को देखकर हमारा अनुमान होता है कि 'आबुत्त' शब्द का मौलिक अर्थ भगिनीपति नहीं है। संस्कृत-भाषा में

'आवुत्त' शब्द की कोई व्युत्पत्ति नहीं मिलती। पाली-भाषा में 'आवुसो' शब्द का अर्थ है 'बंधु', 'वृद्ध' और 'माननीय'। 'सच्च विभंग'-नामक पाली-ग्रंथ में सारि-पुत्र भिक्षुओं से कहता है—

कतमाच आवुसो दुक्खं अरिय सच्चम् ?
कतमाच आवुसो जाति ?
कतमाच आवुसो जरा ?
कतमाच आवुसो मरणम् ?
कतमाच आवुसो सोको ?

'हे माननीय-भिक्षुओ, आर्य-सत्य किसे कहते हैं ? दुःख, जाति, जरा, मरण और शोक किसे कहते हैं ?'

यहाँ माननीय-अर्थ में 'आवुसो' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह 'आयस्मा' शब्द के संबोधन का रूप है। संस्कृत-भाषा का 'आयुष्मत्' शब्द ही, मालूम होता है, पाली-भाषा में 'आयस्मा' हो गया है। संस्कृत 'आयुष्मत्' शब्द का मौलिक अर्थ है दीर्घायु-वाला, वृद्ध वा प्राचीन। मालूम होता है, संस्कृत-भाषा में वृद्ध-वाचक 'आयुष्मत्' शब्द, और पाली-भाषा में माननीय-वाचक 'आयस्मा' शब्द परस्पर विभिन्न नहीं हैं। 'आयस्मा' शब्द के संबोधन में 'आवुसो' बनता है। मालूम होता है, इसी 'आवुसो' शब्द से ही कालिदास और भवभूति का 'आवुत्त' शब्द पैदा हुआ है। आयुष्मन्, आयस्मा, आवुसो और आवुत्त, इन कई शब्दों का आपस में घनिष्ठ संबंध है। निदान 'आवुत्त' शब्द का मौलिक अर्थ हुआ 'वृद्ध' वा 'माननीय'। 'अभिज्ञान-शाकुंतल' नाटक में संतरियों ने राजा के साले का सम्मान बढ़ाने के लिये 'आवुत्त' शब्द का प्रयोग किया था। भगिनीपति के अर्थ में उस शब्द का

७

प्रयोग करके राजा के साले को बहकाने का उनका अभिप्राय न था। वृद्ध-अर्थवाचक 'आयुष्मत्' शब्द से माननीय-अर्थवाचक 'आयस्मा' शब्द की सृष्टि होना संभव नहीं है। किंतु माननीय और बंधु-वाचक 'आयस्मा' वा 'आवुसो' शब्द से भगिनीपति-वाचक 'आवुत्त' शब्द* की उत्पत्ति किस तरह हुई, यही विचारने की बात है। †

"दोहद"

उत्तर-चरित के पहले अंक में भवभूति ने 'दोहद' ‡ शब्द को पुल्लिंग माना है। अमर-कोश में इस शब्द को नपुंसक-लिंग कहा गया है। विल्सन साहब के मत में 'दोहद' शब्द संस्कृत नहीं है। संस्कृत-भाषा का 'दौहृद' शब्द प्राकृत-भाषा में 'दोहद' बन गया है। रघुवंश के तीसरे सर्ग में कालिदास ने 'सुदक्षिणा दौहृदलक्षणं दधौ', इस वाक्य

---

* परिषद् के अन्यतम सभ्य श्रीयुत पंडित हरिदेव शास्त्री महोदय कहते हैं—'संस्कृत-कोश में लिखा हुआ है कि 'आवुत्त' शब्द का अर्थ भगिनीपति है। किसी तरह से हो, हमें इस अर्थ की संगति बिठानी होगी। अभिज्ञान-शाकुंतल में जिन दो पहरेदारों का उल्लेख है, वे उच्च वंश के क्षत्रिय हो सकते हैं, और संभव है, वे राजा के साले के साले हों।"

† कुछ समय पहले मेरे अन्यतम अध्यापक नवद्वीप-निवासी पंडितवर श्रीयुत अजितनाथ न्याय-रत्न महाशय के साथ मेरा इसी विषय में वार्तालाप हुआ था। उन्होंने कहा—"साला और बहनोई, ये दोनों शब्द (जिस तरह अँगरेजी-भाषा में साले और बहनोई के लिये एक ही शब्द है, अर्थात् Brother-in-law—अनुवादक) परस्पर एक दूसरे के लिये व्यवहृत होते हैं। जो राजा के साले थे, वे सबके साले अर्थात् भगिनीपति थे।

‡ अष्टावक्रः—इदं भगवत्या अरुन्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः संदिष्टम्। यः कश्चिद्गर्भदोहदोऽस्याः सोऽचिरात् सम्पादयितव्यः। (उत्तर, १)

में 'दौहृद' शब्द का प्रयोग किया है। इसकी टीका में महा-महोपाध्याय मल्लिनाथ लिखते हैं—'स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी तत्संबंधित्वात् गर्भो दौहृदमित्युच्यते'—अपना हृदय और गर्भ के बच्चे का हृदय—दो हृदयोंवाली—होने से गर्भिणी को 'द्विहृदया' कहते हैं। 'द्विहृदय' शब्द के आगे 'यत्' प्रत्यय लगाकर 'दौहृद' शब्द बनाया जाता है। 'दौहृद' शब्द जिस अर्थ में व्यवहृत होता है, 'दोहद' शब्द का भी अविकल वही अर्थ है। अतएव जिस समय प्राकृत 'दोहद' शब्द संस्कृत में आकर 'दौहृद' का स्थानापन्न हुआ, उस समय उसने अपने स्वाभाविक नपुंसक-लिंग का त्याग नहीं किया। अमरसिंह के समय में 'दोहद' शब्द नपुंसक-लिंग था; किंतु भवभूति के समय में वह एक स्वतंत्र संस्कृत-शब्द बन गया था। 'दौहृद' नपुंसक-लिंगांत शब्द से 'दोहद' शब्द की उत्पत्ति हुई थी, उस समय यह विश्वास दूर हो गया था। पुलिंगांत शब्द के अवयव देख-कर ही भवभूति ने 'दोहद' शब्द को पुल्लिंग मान लिया था।

'उत्तर-चरित' नाटक के पाँचवें अंक में कवि ने 'तत्किं निजे परिजने कदनं करोषि' इत्यादि वाक्यों में युद्ध और हत्या के अर्थ में 'कदन' शब्द का व्यवहार किया है। अमर-कोश में 'कदन' शब्द का उल्लेख नहीं है।

"कदन"

पाणिनीय धातु-पाठ में 'कदि' वा 'कंद' धातु का उल्लेख मिलता है। उसके आगे 'अनट्' प्रत्यय लाने से 'कंदन' शब्द सिद्ध हो सकता है; पर 'कदन' नहीं। कोई-कोई कहते हैं, 'कद्' धातु के आगे 'णिच्' प्रत्यय लगाने से 'कादि' धातु बनती है। इस 'कादि' धातु के आगे 'अनट्' प्रत्यय लगाने से 'कदन' शब्द सिद्ध किया

जा सकता है। 'षटादित्व' के कारण 'कादि' का 'का' ह्रस्व हो गया है। 'कद्' धातु के आगे 'अनट्' प्रत्यय लाने से 'कदन' शब्द बनता है। हमारी समझ में 'स्कन्दन' शब्द का 'कदन' शब्द अपभ्रंश है। पाली वा प्राकृत-भाषा के प्रभाव से 'स्क' के 'स' और 'न्द' के 'न' का लोप हो जाता है। अमरसिंह ने भी 'मृध-मास्कन्दनं संख्यं समीकं सम्परायकम्' आदि युद्ध-वाचक शब्दों में 'आस्कंदन' शब्द का उल्लेख किया है। अमर-कोश का 'आस्कंदन' वा 'स्कंद' शब्द ही भवभूति के 'कदन' शब्द का मूल मालूम होता है।

उत्तर-चरित के दूसरे अंक के 'स्थाने स्थाने मुखरककुभो झांकृतैर्निर्झराणाम्', इस श्लोक में भवभूति ने 'झांकृति' या 'झाम्' शब्द का उल्लेख किया है। 'झां' का अर्थ है 'झरना' या पहाड़ी जल के गिरने से उत्पन्न हुई ध्वनि। इस ध्वनि को साधारणतया 'झन-झन' कहते हैं। यह 'झांकृति' शब्द किस भाषा से उत्पन्न हुआ है? संस्कृत 'ध्मा' धातु का अर्थ है शब्द करना, बजाना। उत्तर-चरित के पाँचवें अंक में 'ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन्' आदि स्थलों में भवभूति ने जिस 'ध्मा' धातु का व्यवहार किया है, वही बिगड़कर 'झां' के रूप में आ गई है। पालिभाषा के प्रभाव से अथवा प्रकृति के अलंघ्य नियम के अनुसार, किसी तरह से हो, जिस समय 'ध्मा' शब्द 'झां' बना, और 'उपाध्याय' की जगह 'ओझा' ने ली, उस समय संस्कृत-भाषा अवश्य बूढ़ी हो गई थी। यही समय मरहठी, हिंदी, बँगला, उड़िया, तैलंग, गुजराती आदि भाषाओं के सूत्रपात का है।

"झाम्"

उत्तर-चरित के चौथे अंक में हड्डियों के मसलने की ध्वनि के लिये भवभूति ने 'मड़मड़ायित' शब्द का प्रयोग किया है।

"मड़मड़"

'मड़मड़ायित' का 'मड़' अंश 'मृद्' या 'मर्द्' धातु से बना है। पालिभाषा के प्रभाव से 'मर्द्' के 'र' का लोप हो गया है, और संस्कृत-भाषा के बुढ़ापे के कारण 'द' का 'ड' हो गया है। अपेक्षा-कृत प्राचीन काल में जहाँ-जहाँ 'मर्मर' शब्द का व्यवहार हुआ है, बाद को उन्हीं स्थानों पर नए ढाले हुए 'मड़मड़' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। जो 'मृद्' धातु पहले 'मलने' के अर्थ में प्रयुक्त होती थी, और 'मृणाति मर्दयति यः स मरुत्'—'जो मले सो मरुत्', इस तरह जिससे 'मरुत्' शब्द बनाया गया था, वही सकर्मक 'मृ' धातु, काल-चक्र में पड़कर, अकर्मक 'मरण' के अर्थ में व्यवहार की जाने लगी। इसी समय मर्दन-ध्वनि के लिये 'मृद्' धातु से 'मड़मड़' शब्द गढ़ा गया। आजकल 'मर्मर' और 'मड़मड़', दोनों शब्दों का प्रचार है।

उत्तर-चरित के छठे अंक में भवभूति ने जो 'गुणगुणाय-मान' * शब्द का व्यवहार किया है, उसका 'गुण', इतना भाग

"गुणगुणायमान"

'गुंजन' शब्द से उत्पन्न हुआ है। जिस समय 'गुंजन' शब्द सर्व-संहारक काल के प्रभाव से 'गुण'-जैसे बूढ़े रूप को प्राप्त हुआ, उसी समय 'गुणगुणायमान' शब्द की उत्पत्ति हुई, ऐसा मालूम होता है।

---

* विद्याधरः—हन्त हन्त सर्वमतिमात्रं दोषायगत् प्रबलवातावलिक्षोभगम्भीर-गुणगुणायमानमेवमेदुरान्धकारनीरन्ध्रनिबद्धम्। (उत्तर, ६)

भवभूति ने 'मालती-माधव' ग्रंथ के प्रथम अंक में 'झंकार', छठे अंक में 'झनझन' और नवें अंक में 'झंझा' * शब्द का प्रयोग किया है। इन सब शब्दों का "झन्", इतना भाग 'ध्वन्' धातु के अपभ्रंश से बना है। 'झन्' शब्द के द्वित्व से 'झन्झन्' शब्द और 'झन्झन्' शब्द के संकोच से 'झंझा' शब्द की उत्पत्ति हुई है। 'झन्झन्' शब्दवाली वायु को 'झंझावात' कहते हैं।

"झंकार, झनूझनू, झंझा"

ऊपर-लिखे कुछ शब्दों पर ध्यान देने से पता चलता है कि जिस समय भवभूति उत्पन्न हुए थे, उस समय संस्कृत-भाषा बुढ़िया हो चली थी। उसी समय हिंदी और बँगला आदि उप-भाषाओं की सृष्टि हुई थी। भाषा-तत्त्व के जाननेवाले जिन पंडितों ने अव्यक्त शब्दों को भाषा की आदिम अवस्था बताई है, उनके पक्ष या विपक्ष में यहाँ कुछ भी नहीं लिखा गया। जिस संस्कृत-भाषा में प्राचीन काल से लेकर अब तक के शब्दों का धारा-वाहिक इतिहास मौजूद है, उस भाषा के बचपन या जवानी में 'गुंजन' के अर्थ में 'गुणगुणायमान', हड्डियों के 'मर्दन'-अर्थ में 'मड़मड़', रात्रि के या झरने की गंभीर ध्वनि के अर्थ में 'झाँ झाँ' और वायु की ध्वनि के लिये 'झंझा' शब्द का प्रयोग नहीं होता था, यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है। इस समय संस्कृत का कोई उद्भट विद्वान् संस्कृत में कोई काव्य लिखे, और उसमें पत्तों के गिरने के अर्थ में 'खस-खस' का या 'स्फूर्जथु'-अर्थ में 'फूँ' शब्द का व्यवहार करे, तो

* माधव——उत्फुल्लार्जुनसर्जवासितवहत्पौरस्त्यझञ्झानिल
प्रेङ्खोलस्खलितेन्द्रनीलशकलस्निग्धाम्बुदश्रेणयः। (मालती, ६)